साध्वीरत्न श्री पुष्पवती जी म. के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में

अ प रा जि ता

लेखक
विश्वसन्त अध्यात्मयोगी उपाध्याय
श्री पुष्कर मुनि जी म. के सुशिष्य
श्री देवेन्द्र मुनि 'शास्त्री'

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

समर्पण

क्षमा, दया, निर्लोभता सरलता, स्नेह, सद्भावना
सौम्यता की साक्षात्प्रतिमा
ज्येष्ठ भगिनी, परम विदुषी
साध्वीरत्न महासती पुष्पवती जी को

—देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय

अपने प्रिय पाठकों के कर-कमलों में 'अपराजिता" उपन्यास समर्पित करते हुए हृदय में अपार प्रसन्नता है। महासती अंजना का नाम जैन साहित्य में अत्यधिक विश्रुत है। सोलह सतियों की सूची में अंजना का नाम भले ही न आया हो, पर बीस सतियों की सूची में उनका नाम अत्यन्त निष्ठा व अपार श्रद्धा के साथ लिया जाता रहा है। अंजना सती के सत्य और शील की महिमा और गरिमा के सम्बन्ध में जैन मनीषियों ने विविध भाषाओं में और विविध विधाओं में जमकर लिखा है।

उपन्यास आधुनिक साहित्य की एक अत्यधिक लोकप्रिय विधा है। श्रद्धेय साहित्य शिक्षण सचिव, साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने 'अपराजिता' नाम से उपन्यास लिखा है। जो महासती अंजना के समग्र जीवन सत्य को उजागर करने वाला है। मुनि श्री जी ने साहित्य की हर विधा को समृद्ध बनाया है। जहाँ उन्होंने शोध ग्रन्थ लिखें हैं वहाँ उनका कथा और रूपक साहित्य भी जन-जन का आकर्षण केन्द्र रहा है।

आधुनिक युग में नारी की गौरव गरिमा लुप्त होती चली जा रही है। सत्य, शील, लज्जा और दया नारी के सद्गुण थे, जिससे नारी नारायणी के रूप में पूजी जाती थी, पर परिताप है, पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण करने वाले व्यक्ति नारी के अंगों का अश्लील प्रदर्शन करने में अपनी गरिमा समझते हैं। पर वे भूलते हैं कि नारी का श्रृंगार शील है, न कि विलासिता।

प्रस्तुत उपन्यास में नारी का गरिमायुक्त पवित्र चरित्र प्रस्तुत किया गया है। और यह बताया गया है कि नारी कितनी महान् है। चरित्र निष्ठा को जगाना और भोगाकुल जीवन की विरसता को बताकर त्याग, संयम और सादगी की प्रतिष्ठा करना ही मुनि श्री के उपन्यास का उद्देश्य है। इस दृष्टि से यह कृति पूर्ण सफल कही जा सकती है।

मंत्री—
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

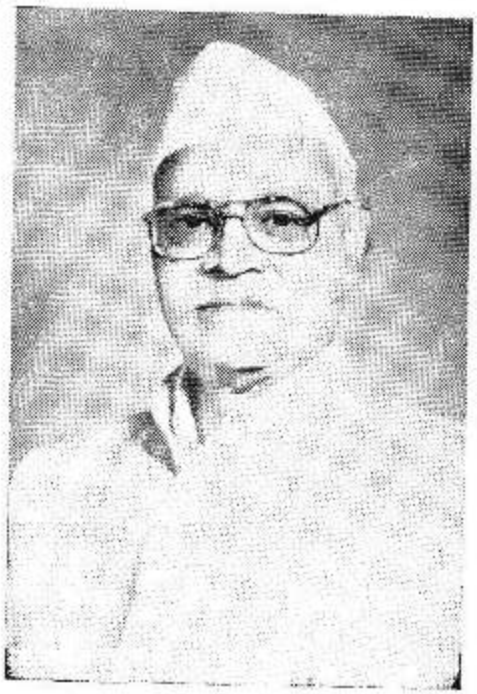

धर्मप्रेमी, उदारहृदय, परमगुरुभक्त
श्रीमान धनराजजी चुन्नीलाल जी बांठिया (पूना)

धर्मशीला, सुश्राविका
सौ० झमकाबाई धनराज जी बांठिया (पूना)

उदारहृदय, गुरुभक्त, दानवीर

सेठ श्री धनराजजी चुन्नीलाल जी बांठिया

पूना निवासी श्रीमान धनराज जी बांठिया जैन समाज के विख्यात दानवीर सज्जन पुरुष हैं, जो मुख से बोलते बहुत कम हैं किन्तु मौका आते ही दान की वर्षा करने में सबसे आगे रहते हैं।

आपका जन्म पूना जिले के औंध गाम में दिनांक २ मार्च, १९२२ को हुआ। हाईस्कूल तक अध्ययन करने के बाद आपने टेलरिंग कोर्स किया और रेडीमेड कपड़े का व्यवसाय भी प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में बीज रूप में अंकुरित व्यवसाय आज विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। आपके कारखाने में सैकड़ों व्यक्ति कार्य करते हैं। रेडीमेड व्यवसाय तथा विन्नी मिल आदि की एजेन्सी के रूप में आपका व्यापार दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त है।

आपका स्वभाव बहुत ही मधुर व मिलनसार है। साथ ही आप सच्चरित्र-निष्ठ व्यक्ति हैं। जैन धर्म के प्रति गहरी निष्ठा है और अन्य सम्प्रदायों के प्रति मन में सहानुभूति है। अनेक सामाजिक, धार्मिक कार्यों के प्रति आपकी रुचि है यथाशक्ति आप सहयोग भी देते रहते हैं।

धर्मानुरागी अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती झमकाबाई भी धर्मपरायण सुश्राविका हैं। पति की भाँति आप में भी धार्मिक भावना का साम्राज्य है, आप दोनों ही श्रावक जीवन के आदर्श रूप हैं।

वर्तमान में आपके तीन सुपुत्र हैं—गुलाबचन्द जी, फूलचन्द जी और सुहास जी। यह तीनों त्रिमूर्ति की तरह हैं, तथा तीनों भाइयों की धर्मपरायणा क्रमशः धर्मपत्नियां हैं—अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती राजश्री, अखण्ड सौभाग्यवती चंचलाबाई, अखण्ड सौभाग्यवती श्रीमती कान्ताबाई। गुलाबचन्द जी के एक पुत्र और एक पुत्री है—प्रशान्तकुमार, मनीषा। फूलचन्द जी की तीन पुत्रियां हैं—नूतनकुमारी, राखीकुमारी, स्वीटीकुमारी। सुहास जी के दो पुत्र हैं और एक पुत्री—रूपेशकुमार, प्रीतिशकुमार और रीनाकुमारी।

आपश्री के ज्येष्ठ पुत्र स्वीवराज जी थे। जो बहुत ही विवेकी व धर्मनिष्ठ थे, उनका स्वर्गवास हो गया है। उनकी धर्मपत्नी धर्ममूर्ति श्रीमती कान्ताबाई जी बहुत ही समझदार सुश्राविका है। आपके एक पुत्र है हर्षकुमार। आपका सम्पूर्ण परिवार परम श्रद्धेय विश्वसन्त अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज, साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनि जी महाराज साहब के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में आपका स्मरणीय सहयोग प्राप्त हुआ है, धन्यवाद!

आपके प्रतिष्ठित व्यापारिक प्रतिष्ठान का नाम है—

के० जी० बाठिया ब्रादर्स

८९/१, भवानी पेठ, पूना-४११००२

—चुन्नीलाल धर्मावत (कोषाध्यक्ष)
तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

लेखक की कलम से

आज का मानव ऐसे विषम वातावरण में जी रहा है, जिसे संस्कृतियों का संक्रमण और संघर्षकाल कहा जा सकता है। एक ओर भौतिकवादी संस्कृति चर्मोत्कर्ष पर है, जिसने सम्पन्नता और विलासिता को ही जीवन का सर्वस्व माना है। आज सत्य, शील, सदाचार जैसे मानवीय दिव्य भव्य आदर्शों की उपेक्षा की जा रही है। सम्पन्नता और विलासिता के प्रदर्शन की प्रतिस्पर्धा लग रही है। दुराचार और भ्रष्टाचार दिन प्रतिदिन द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ रहा है। सदाचार और नैतिकता जो जीवन की अच्छाइयाँ हैं, वे दिन प्रतिदिन क्षीण हो रही है। पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण से मानव अधिक से अधिक सुख-सुविधा और विलासिता पूर्ण वातावरण को पाने के लिए लपक रहा है। यदि यही स्थिति रही तो आने वाले समय में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के लिए एक गम्भीर भयावह स्थिति समुत्पन्न हो जायेगी।

दूसरी ओर आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसे हम पौर्वात्य संस्कृति के नाम से जानते हैं, पहचानते हैं। जिस संस्कृति रूपी विराट् वृक्ष को तीर्थंकर, आचार्य, ऋषि, महर्षि, और अवतारी प्रभृति महापुरुषों ने अपने तपःपूत जीवन से सींचा है। स्वयं ने अपने जीवन को साधना की आग में तपाकर ज्योतिर्मय बनाया। उन्होंने आत्मा के निगूढ़तम रहस्यों का समुद्घाटन किया। उन्होंने कहा—"मानव का जीवन कम्प्युटर की तरह नहीं है। अपितु इस महान् जीवन को पाने के लिए विविध जीव योनियों में आत्मा को भटकना पड़ा है। जब प्रबल पुण्यवानी का पुन्ज एकत्र होता है तब कहीं जाकर मानव जीवन प्राप्त होता है। इस जीवन को पाकर इन्सान से भगवान और नर से नारायण बना जा सकता है।"

उन तत्वदर्शी महर्षियों ने बताया कि अनेक जन्मों में किये गये अच्छे और बुरे कर्मों का परिणाम आत्मा को भोगना पड़ता है। एक व्यक्ति वर्तमान में परोपकारी, सदाचारी, और धर्मानुरागी है, पर वह अभावों से संत्रस्त है। वह अकल्पनीय कष्ट और दारुण वेदनाएं भोग रहा है। उन वेदनाओं से छटपटाते हुए देखकर आज का जन साधारण नैतिकता, सदाचार, और मानवीय गुणों की झिल खोलकर

खिल्लियाँ उड़ाता है। उपहास करता है। पौर्वात्य संस्कृति में एक वर्ग ईश्वरवादी भी है। उसमें भक्ति की प्रधानता है, वह मानता है कि जीवन में सुख का जो सरसब्ज बाग लहलहा रहा है, वह उसी महाप्रभु की कृपा का प्रतिफल है। वह संपूर्ण रूप में ईश्वरेच्छा पर निर्भर होता है। स्वयं को दीन-हीन रूप में प्रस्तुत करता है। पर जैन संस्कृति ने ईश्वरवादी संस्कृति की तरह प्रभु की कृपा को स्वीकार नहीं किया, उसका यह स्पष्ट मंतव्य है कि हमारे जीवन में चाहे सुख की चमचमाती हुई चाँदनी छिटके या दुख की काली कजरारी रात्रि मंडराये। सुख और दुःख दोनों का कारण है, हमारे ही कृत कर्म। जब शुभ कर्मों की प्रबलता होती है तो हमें सुख मिलता है, और जब अशुभ कर्मों की प्रबलता होती है, तब दुख प्राप्त होता है। हमारे दैनिक जीवन में शुभ और अशुभ कर्मों का फल सदा मिलता रहता है। जो भी हम शुभ और अशुभ कर्म करते हैं, उन कर्मों का फल कुछ तो वर्तमान भव में ही मिल जाता है और कुछ कर्मों का फल अनेक जन्मों के पश्चात् मिलता है, पर यह निश्चित है कि शुभ और अशुभ कर्मों का फल आत्मा को मिलता है। एतदर्थ ही ज्ञानियों ने मानव को यह संकेत किया तू प्रतिपल प्रतिक्षण जागरूक रह, तू अपनी ओर से ऐसा कोई भी कार्य न कर, जिससे दूसरों के फूल से कोमल मानस को ठेस पहुँचे। यह भी सत्य है कि आत्मा पूर्व बद्ध कर्मों को जहाँ भोग रहा है वहाँ नित्य नूतन कर्म भी बाँध रहा है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ न जाने कितने जन्मों की कर्म-कमाई संचित है। संचित कर्मों में से कितने ही कर्म अनुकूल वातावरण पाकर फल प्रदान करते हैं, तो कितने ही कर्मों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन के साथ नहीं होता। कितने ही कर्म अनायास ही उदय में आते हैं जो कर्म अनायास उदय में आते हैं, वे कर्म भाग्य कहलाते हैं।

जैन संस्कृति में कर्मवाद का विशद विश्लेषण किया गया है। हम उसकी यहाँ चर्चा न कर केवल यही बताना चाहते हैं कि प्रस्तुत उपन्यास में कहानी के माध्यम से कर्मवाद का जीता जागता रूप प्रस्तुत किया गया है। कर्म की लीला निराली है। अन्जना एक पतिव्रता नारी है, जिसने स्वप्न में भी किसी पर-पुरुष की कामना नहीं की। पर अशुभ कर्म के उदय के कारण सहेलियों के साथ वार्तालाप में निकले हुए सहज शब्दों को सुनकर पवनंजय के मन में एक तूफान पैदा हो गया और वह कल्पनाओं के भंवरजाल में उलझ गया। पाणिग्रहण होने पर भी बारह वर्ष तक उसने अन्जना का मुंह भी नहीं देखा। अन्जना भारतीय नारी थी। वह पति के प्रति पूर्ण समर्पित थी। वह पवनंजय के दर्शन के लिए ललकती रही। वह अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण कर रही थी, कि मेरा कौनसा अपराध हुआ है जिसके कारण मेरे पति मुझ से रूठे हुए हैं। उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। अन्त में मेरे पूर्वबद्ध कर्मों का ही फल है।' यह सोच कर वह समभाव के सागर में डुबकियाँ लगाने लगी। यातना और वेदनाओं को शान्ति पूर्वक सहती हुई सहिष्णुता की देवी बनकर जीती रही।

बारह वर्ष का सुदीर्घकाल बीत गया, जरा से निमित्त से पवनंजय के मन का कालुष्य मिट गया उन्हें अपने कृत्यों पर ग्लानि हुई—"मैंने एक सत्य-शील की अमर साधिका नारी का अपमान किया है।" वे युद्ध के लिए जा रहे थे, एक क्षत्रिय वीर का युद्ध मार्ग से लौटना अपराध था, जन-जन की दृष्टि से अपवाद था। अतः वे छिपकर अन्जना के महल में पहुँचे। पर अन्जना से मिलने की बात माता अभिभावक गण को ज्ञात नहीं थी। पवनंजय गुप्त रूप में ही लौट गये और सगर्भा अन्जना को सास-ससुर तथा माता पिता ने असती घोषित कर, राजमहल से निकाल दिया। उसे वन-वन भटकना पड़ा, कष्टों की आग में तपना पड़ा, असह्य वेदनाएँ भोगनी पड़ी, पर अंजना ने कभी किसी पर दोष नहीं मंढा, अपने ही कर्मों का फल मानकर हंसती और मुस्कराती हुई उन्हें सहन करती रही। आज भी भारतीय नारी के लिए उसका आदर्श अनुकरणीय है। आज जरा सी विपरीत स्थिति आते ही नारी का धैर्य ध्वस्त हो जाता है और वह केरोसिन छिटककर या अन्य किसी प्रकार से अपने प्राणों का विसर्जन कर देती है, जो एक प्रकार से कायरता है।

दूसरी विशेषता यह है कि विवाह करने पर बारह वर्ष तक अन्जना और पवनंजय का सांसारिक सम्बन्ध नहीं हुआ, वे अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। पवनंजय राजकुमार थे, उस युग में राजाओं के यहाँ पर बहु-विवाह प्रथा प्रचलित भी थी। पर पवनंजय अखण्ड ब्रह्मचर्य का ही पालन करते रहे। ब्रह्मचर्य की साधना के कारण ही वीर हनुमान जैसा पुत्र रत्न पैदा हुआ था, जिसकी तेजस्विता इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। वह बजरंग बली था। आज के माता पिता भी अपने प्यारे पुत्र को हनुमान की तरह बलिष्ठ और तेजस्वी बनाना चाहते हैं, पर वे अन्जना और पवनंजय की तरह ब्रह्मचर्य का पालन कहाँ करते हैं? बिना ब्रह्मचर्य के तेजस्वी सन्तान की कल्पना करना, आकाश कुसुमवत् है।

अन्जना के जीवन में त्याग, बलिदान, संयम, समर्पण और कष्टसहिष्णुता का सजीव अवतरण हुआ है। ऐसा पवित्र चरित पाश्चात्य देशों में मिलना बहुत ही दुर्लभ है। भारतीय नारी का जो ज्योतिर्मय रूप अन्जना में प्रस्फुटित हुआ है, वह प्रेक्षणीय है। भारतीय समाज में सतियों की एक अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है। यहाँ पर हजारों सतियाँ हुई हैं उनमें से कुछ प्रमुख सतियों का उल्लेख "भरहेसर" की सज्झाय में मिलता है। उन्होंने छह गाथाओं के द्वारा उन महान् सती साध्वियों का उल्लेख किया है। वे गाथाएँ इस प्रकार है—

सुलसा चन्दनबाला मणोरमा मयणरेहा दमयन्ती।
नमयासुन्दरी सिया नन्दा भद्दा सुभद्दा य ॥८॥

राइमई रिसिदत्ता पउमावई अंजणा सिरिदेवी ।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावई पयावई चिल्लणा देवी ॥९॥
बंभी सुन्दरी रुप्पिणी, रेवई कुन्ती सिवा जयन्ती अ ।
देवइ धोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला य ॥१०॥
पउमावई अ गोरी गंधारी लक्खमण सुसीमा य ।
जंबूवई सच्चभामा रुप्पिणी कण्हट्ठ महिसीओ ।
जक्खा य जक्खदिन्ना भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा भइणिओ थूलभद्दस्स ॥१२॥
इच्चाई महासइयो जयन्ति अकलंकसील कलिआओ ।
अज्ज वि वज्जइ जासिं-जस पढरो तिहुअणे सयले ॥१३॥

इस सूची में अंजना का भी नाम है । सती अंजना के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती, राजस्थानी भाषा में विपुल साहित्य लिखा गया है। आचार्य सचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में रामकथा के अन्तर्गत अन्जना का चरित्र भी दिया है । वर्तमान युग में श्री वीरेन्द्र जैन का 'मुक्ति दूत' उपन्यास अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है ।

मैंने अन्जना के उस पौराणिक चरित्र के आधार पर प्रस्तुत उपन्यास तैयार किया है । इसमें उस सती नारी के बलिदान की अमर कथा है । मैं इस लेखन में कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय तो प्रबुद्ध पाठक ही कर सकते हैं । प्रस्तुत उपन्यास की सर्जना में महामहिम विश्व सन्त उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म. की असीम कृपा और शुभाशीष रहा है । तथा इस उपन्यास, लिखने की प्रबल प्रेरणा परमविदुषी साध्वीरत्न ज्येष्ठ बहिन श्री पुष्पवती जी की है । तथा श्री रमेश मुनि जी, राजेन्द्र मुनि जी, दिनेश मुनिजी, और नरेश मुनिजी की सेवा भी भुलाई नही जा सकती । पाण्डुलिपि को निहारकर मनीषी स्नेही ज्ञान जी भारिल्ल ने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकालकर उपन्यास की दृष्टि से भाषा आदि का परिमार्जन किया । तथा मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने में स्नेह मूर्ति श्रीचन्द सुराणा का सहयोग प्राप्त हुआ । तदर्थ मैं उनका आभारी हूँ ।

पूर्व उपन्यासों की तरह प्रस्तुत उपन्यास भी जन-जन के मन में त्याग निष्ठा, संयम प्रतिष्ठा करेगा । सत्य, शील और सदाचार की अखण्ड ज्योति जगायेगा । इसी आशा के साथ, सुज्ञेषु किं बहुना ।

—देवेन्द्र मुनि

श्री आचार्य रघुनाथ जैन
स्मृति भवन
पाली (राजस्थान)
दिनांक ६-८-८६

विश्वसन्त उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की महत्वपूर्ण कृतियाँ

ब्रह्मचर्य विज्ञान	(प्रवचन)	४०-००	महाभारत के प्रेरणा प्रदीप काव्य		१०-००
श्रावक धर्म दर्शन	,,	३५-००	विमल विभूतियाँ	,,	१०-००
जैन धर्म में दान :	,,	२०-००	वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार	,,	१२-००
धर्म का कल्पवृक्ष :	,,	२५-००	ज्योतिर्धर जैनाचार्य	,,	६-००
संस्कृति के स्वर	,,	५-००	ओंकार : एक अनुचिंतन (निबन्ध)		२-००
जिन्दगी की लहरें	,,	२-००	साधना पाठ	,,	२-५०
साधना का राज मार्ग	,,	२-५०	श्रीमद् अमरसूरि काव्यम्, संस्कृत		१५-००
जिन्दगी की मुस्कान	,,	२-५०	जैन कथाएँ : भाग १ से १११		३-००
धर्म और जीवन	,,	१-००	पुष्कर-पीयूष	(भजन)	१०-००

साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज की प्रमुख कृतियाँ

भगवान महावीर :		विचार और अनुभूतियां	२-००
एक अनुशीलन (शोध प्रबन्ध)	४०-००	संस्कृति के अंचल में	५-००
जैन आगम साहित्य :		महावीर युग की	
मनन और मीमांसा ,,	४०-००	प्रतिनिधि कथाएँ	१२-००
जैन दर्शन :		जैन धर्म और दर्शन : (निबन्ध)	३-००
स्वरूप और विश्लेषण ,,	३०-००	चिन्तन के विविध आयाम	१५-००
कल्प सूत्र : (तृ. सं) ;,	२०-००	खिलती कलियाँ :	
जैन आचार : सिद्धान्त व स्वरूप	५०-००	मुस्कराते फूल (द्वि. सं.)	५-००
भगवान ऋषभदेव :	१५-००	प्रतिध्वनि	३-५०
भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी		गहरे पानी पैठ	४-००
श्री कृष्ण : एक अनुशीलन	१०-००	खिलते फूल	३-००
भगवान पार्श्व :		शाश्वत स्वर	३-००
एक समीक्षात्मक अध्ययन	५-००	प्रेरणा-प्रसून	५-००
साहित्य और संस्कृति	१२-००	कुछ मोती : कुछ हीरे (लघु कथाएँ)	३-००
धर्म दर्शन : मनन व मूल्यांकन	३०-००	धरती के फूल ,,	३-००
धर्म और दर्शन	४-००	पंचामृत ,,	३-००
प्रज्ञाप्रदीप श्री पुष्करमुनि	१०-००	अतीत के चलचित्र ,,	३-००
अनुभूति के आलोक में	४-२०	चमकते सितारे ,,	३-००
चिन्तन की चाँदनी	१०-००	गागर में सागर ,,	३-००
विचार वैभव	२-००	बिन्दु में सिन्धु ,,	२-००
विचार रश्मियाँ	७-००	महकते फूल ,,	२-००

फूल और पराग (लघु कथाएँ)	३-००	सोना और सुगन्ध ,,	२-००
बोलते चित्र ,,	१-५०	धरती का देवता (उपन्यास)	४-००
बुद्धि के चमत्कार ,,	४-००	सूली और सिंहासन ,,	४-००
अतीत के उज्ज्वल चरित्र	२-००	पुण्य पुरुष ,,	५-००
आस्था के आयाम ,,	४-००	जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य	२०-००
सत्य और तथ्य ,,	४-००	राज० केसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि	
जिन खोजा तिन पाइयाँ	५-००	अभिनन्दन ग्रन्थ	१२५-००
अमिट रेखाएँ ,,	२-००	A SOURCE BOOK IN JAINA	
बोलती तस्वीरें ,,	३-००	PHILOLOPHY	50-00

श्री राजेन्द्र मुनि शास्त्री एम० ए०, साहित्य महोपाध्याय

भावना भव नाशिनी (निबन्ध)	१५-००	भगवान महावीर की सूक्तियाँ	३-००
अहिंसा परमो धर्म : ,,	१५-००	संगीत सौरभ (भजन)	२-००
जैन धर्म ,,	२५-००	मंगल पाठ [प्रातः स्मरण]	३-००
भगवान महावीर :			
जीवन और दर्शन ,,	२-००	लार्ड महावीर लाईफ एण्ड	
मेघ कुमार : एक परिचय ,,	२-००	फिलोसफी (अँग्रेजी)	३-००
चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण	१०-००	भगवान महावीर जीवन अने	
सत्य शील की अमर साधिकाएँ	१०-००	दर्शन (गुजराती)	२-००
मुक्ति का अमर राही: जम्बू ,,	५-००	त्यागवीर जम्बू (गुजराती)	२५-००
राजस्थान केसरी श्री पुष्कर			
मुनिजी महाराज :		राजेन्द्र ज्योति	१-००
जीवन और विचार	७-००	जैन श्री कृष्ण कथा	५-००

महासती श्री प्रभावती जी महाराज

साहस का संबल (चरित्र काव्य)	३-००	जीवन की चमकती प्रभा	३-००
पुरुषार्थ का फल ,,	२-००	आगम के अनमोल मोती : भाग	
सुधा सिन्धु ,,	३-००	१-२-३ [थोकड़े] प्रत्येक	३-००
प्रभा पुंज ,,	७-००	प्रभा पीयूष घट [भजन]	२-५०
कल्पतरु ,,	५-००	प्रभा संगीत	२-५०
		प्रभा-प्रवचन	१५-००

महासती श्री पुष्पवती जी

पुष्प-पराग [प्रवचन]	१५-००	सती का शाप (उपन्यास)	५-००
साधना सौरभ [प्रातः स्मरण]	१-००	प्रभावती शतक	०-५०
सामायिक सूत्र	०-५०	प्रेरणा के पुष्प [कथाएँ]	५-००
किनारे-किनारे (उपन्यास)	५-००		

अपराजिता

卐 ☐ पुस्तक — अपराजिता

☐ लेखक — देवेन्द्र मुनि शास्त्री

☐ सम्पादक — श्री ज्ञान भारिल्ल

☐ प्रकाशन वर्ष — वि० सं० २०४३ भाद्रपद
सितम्बर १९८६

☐ प्रकाशक — श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर
(राजस्थान)

☐ मूल्य — दस रुपए मात्र

☐ मुद्रक — श्रीचन्द सुराना के लिए
शक्ति प्रिन्टर्स, आगरा-३

अपराजिता

एक

मानसरोवर !

सुना है कि जो भी तुम्हारे किनारे एक बार आ लगता है, वह फिर कहीं और लौटकर जाना नहीं चाहता।

ऐसा क्या समाए हो तुम अपने अतल में ? तल पर तो तुम इतने तरल हो। लहर-लहर लहराते हो। क्या भीतर तक भी वही हो जैसे दीखते हो ? पारदर्शी हो। ऐसे अतल हो कि तल तुम्हारा दीखता है।

विचित्र हो तुम !

तल तुम्हारा दीखता है।

पर क्या जो कुछ दीखता है वही सब कुछ है ? ऐसा होता तो फिर तुम्हारे इस मोतियों भरे तल में कोई अतल कैसे समाया रहता ? मुझे तो कुछ समझ में आता ही नहीं। कभी-कभी तो सोचती हूँ कि तुम हो भी कि नहीं ? 'तुम' होते तो फिर 'और कुछ' कैसे होता ?

मस्तिष्क मेरा उलझा है। न तल दीखता है, न अतल। जाने क्या है और क्या नहीं है ? सपना तो नहीं देख रही मैं ? सपना भी हो तो वह कहीं है तो। किसी के मन में। पर मुझे तो लगता है कि न मैं कुछ कहीं हूँ, न मेरा मन है कोई।

कैसे हो गया यह सब कुछ ? कल तक तो ऐसा नहीं था। कल ही तो वसन्ततिलका ने कहा था— "अंजना ! कितनी भाग्यवान है तू !"

यह वसन्ततिलका कितनी अच्छी है ! यह न होती तो मैं कहाँ जाती ? किसे कहती अपने मन की बात ? सुनती चली आई हूँ कि आत्मा पृथक-पृथक होती है सभी प्राणियों की। पर मुझे तो लगता है कि यह वसन्त मुझ से पृथक है ही नहीं। दो शरीर हैं, किन्तु मन या प्राण, हमारे, जैसे एक ही हैं। छाया-सी बनी रहती है प्रतिक्षण मेरे साथ। अरे, पर वो चली कहाँ गई····· ·····वसन्त ! अरी ओ वसन्त !·····

× × × ×

तो अंजना, हमारी कथानायिका—वह हंसिनी, मोती चुगने गई थी मानसरोवर के तीर। कोमलांगी धवल-पंखिनी, सरला, राजहंसिनी—किन्तु नहीं जानती थी कि प्रकृति-नटी ने इस बार उसके लिए किस स्वप्न सरोवर के स्वर्गीय मोती बिखेर रखे हैं।

चंचला प्रकृति-नटी ने गुपचुप अपनी अदृश्य अँगुलियों से कुछ ऐसे धागे खींचे और ढिलाए कि अपने में ही डूबी-डूबी इस राजहंसिनी के पंख-पंख पर किसी अन्य लोक से उड़ आए, किसी मग्नमना राजहंस ने चुपचुप अपनी प्रीत की पीर लिख दी·····

शायद तभी किसी कवि ने गान किया होगा—

मोती चुगने गई रे हंसी मानसरोवर तीर।
पंख-पंख पर राजहंस ने लिख दी प्रीत की पीर॥

अंजना जब अपने राजोद्यान में मयूरों के साथ खेलती थी तब सरस्वती-सी दीखती थी। जब वह सरोवर के तीर पर बैठकर कमल-दलों के बीच विचरते हंसों के पख सहलाती थी तब उसमें महालक्ष्मी की छवि उतर आती थी। नित नई छवि, नित नया रूप—अद्‌भुत थी अंजना।

नवयौवना अंजना, सौम्य सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी अंजना, लावण्य-मयी, सरलमना, किन्तु आत्म-शक्ति के नाते वज्रात्मा अंजना—राजकुमारी अंजना, जीवमात्र के प्रति प्रेमासव पीकर बेभान-सी हो गई। न दिन दिन रहे, न रातें रातें। सब कुछ एक अजाना प्रेम-प्रवाह बनकर रह गया, जिसका कोई विराम दीखता नहीं था····· सृष्टि का अणु-अणु उसे इस प्रेम प्रवाह में तैरता दीखता रहा था।

कोई आर, न कोई पार।

बहुत काल बीत चुका इस घटना को घटित हुए, किन्तु लगता है कि उस प्रेम का प्रवाह तो आज भी अविराम गतिमान है, अथवा छन-छन कर बरस रहा है आकाश से धरती पर, फूल-पातों, लता-वृक्षों, शिखर-सरिताओं पर। और उस अमल-धवल, निष्कलुष प्रेम का संजीवन जीवन दे रहा है समूची सृष्टि को।

× × × ×

प्रेम के संजीवन की स्रोतस्विनी अंजना ने पुकारा—"वसन्त! अरी ओ वसन्त·····।"

"आई, अंजन! बस अभी आई! देख क्या लाई हूँ मैं तेरे लिए?"

नील-कमल की एक सुन्दर, कोमल कली लिए वसन्ततिलका आई और अंजना के रक्त-कमल जैसे कोमल हाथों में उसे देते हुए बोली—

"देख, कितनी सुन्दर कलिका है, है न !"

अंजना ने चुपचाप उस कोमल कालिका को अपने अधरों से लगा लिया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो धरती के गुलाबों और मानसरोवर के नील-कमलों में कोई स्पर्धा जाग उठी हो।

वसन्ततिलका ने अपनी प्रिय सखी की यह मौन क्रिया देखी; उसके हृदय से अनजाने ही निकले एक गंभीर निःश्वास का अनुभव किया और पूछा—

" क्योंरी ! कुछ बोलती क्यों नहीं तू ?"

अंजना ने अपने कुछ तरल हो आए बड़े-बड़े सुन्दर नेत्रों से एक बार वसन्ततिलका की ओर देखा और फिर सामने फैले सरोवर की ओर शून्य सी दृष्टि से देखते हुए कहा—

"क्या कहूँ, क्या बोलूं वसन्त.....?"

"क्यों ? ऐसा क्या हो गया है तुझे ? अभी-अभी तो पुकार रही थी मुझे। अब आई है तो बोलती ही नहीं। क्या सोच रही है ? क्या देख रही है उधर ? बता न अंजना, तुझे शपथ है मेरी।"—इतना कहते-कहते वसन्त-तिलका ने अपनी दोनों बाहें अंजना के गले में डाल दीं।

अनुभूति बहुत गहरे, भीतर तक प्रभाव डालती है। सहानुभूति बड़ी सम्प्रेषणशील होती है।

अंजना अब तो फूट ही पड़ी। नील-सरोवरों जैसी उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से मोती बरस पड़े। उसने अपना मुख अपनी सखी के कन्धों पर फैले केशपाशों में छिपा लिया और सुबकने लगी।

बचपन की सहेलियाँ थीं अंजना और वसन्ततिलका। जैसे पारिजात की किसी एक ही शाखा पर खिले दो फूल। दो शरीर और एक प्राण।

सब कुछ जानती थी वसन्ततिलका।

घड़ीभर वह भी फिर कुछ नहीं बोली। चुपचाप अपनी प्राणों से भी प्रिय सखी को अपने प्रेम भरे कोमल वक्ष से चिपकाए बैठी रही। हृदय के आकाश में उमड़े भावनाओं के तूफान को कुछ शान्त हो जाने दिया उसने।

और फिर धीरे-से अपने दोनों हाथों में अंजना के मुख को लेकर सीधे उसकी गीली, रतनारी आँखों में झाँकते हुए बोली—

"परम प्रतापी विद्याधर राजा महेन्द्र की बहादुर बेटी अंजना भी इतनी कातर हो सकती है ? ऐसे हिम्मत हार सकती है ? अंजना ! प्रबल से प्रबल प्रभंजन भी किसी नन्ही, कोमल दीपशिखा को बुझा तो सकता है, किन्तु अपनी आत्म-ज्योति से प्रकाशित उस दीपशिखा के अन्तर् की आलोकित ऊष्मा और पवित्र प्रकाश को मिटा नहीं सकता । यदि तू मुझे प्यार करती है, यदि तेरी और मेरी आत्म-वीणा के तार एक ही स्वरों में झंकृत होते हैं तो मेरी यह बात कभी भूलना नहीं ।"

और अंजना कभी भूली नहीं ।

काया उसकी कोमल थी । मन कल्पनाशील था । किन्तु उसकी आत्मा अपने परमपद को पहचानती थी ।

अतः उसने सब कुछ सहा । एक नारी इससे अधिक और क्या सहेगी ? अपने उपास्य पतिदेव द्वारा किया गया तिरस्कार सहा । माता-पिता द्वारा त्याग दिये जाने का दुःख भी सहा । लोकलाज भी जब असह्य हो उठी तो वन-वन भटकी, भूखी और प्यासी, असहाय और अकेली ·· ·····

नहीं, एकदम अकेली तो नहीं । वसन्ततिलका उसके साथ थी छाया के समान । और एक और भी था कोई उसके गर्भ में जो उसकी पवित्रता का जीवन्त प्रमाण होते हुए भी काल की गति के कारण कुछ समय के लिए उसकी अप्रतिष्ठा का कारण बन गया था । लेकिन काल गति के परिवर्तन के साथ ही जो उसके नारीत्व और मातृत्व दोनों को ही धन्य करने आ रहा था ।

क्या होती है यह काल-गति ? और कैसे-कैसे खेल दिखाती है यह जीव को ? एक बार कर दिये जाने के पश्चात् कर्म कैसे लिपट जाते हैं जीवात्मा के साथ और फिर कैसे होती है निर्जरा ?

आइये, बैठें, घड़ी भर आत्मा के इस मानसरोवर के तीर पर और कुछ देखें····, कुछ विचार करें·····

× × × ×

कथा पुरानी है किन्तु कथ्य सनातन है ।

महेन्द्रपुर नगर के विद्याधर राजा महेन्द्र और उनकी रानी हृदय-

सुन्दरी को एक शत पुत्रों के बाद अन्ततः एक पुत्रीरत्न की प्राप्ति हुई थी। वह बालिका वस्तुतः एक नारीरत्न ही सिद्ध हुई जैसा कि हम इस कथा में देखेंगे। मानसरोवर के तीर पर अपनी सखी वसन्ततिलका के द्वारा लाई गई नीलकमल की कलिका को अपने अधरों से लगाकर रो पड़ने वाली हमारी कथानायिका सती अंजना, यही वह बालिका थी। बालिका द्वितीया के चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे बढ़ रही थी। शिशुकाल बीता, बचपन भी बीता और फिर जब यौवन आया तब····

राजा-रानी ने अपनी प्राणों से भी प्रिय पुत्री अंजना के लिए किसी सुयोग्य वर की खोज आरम्भ की।

कभी-कभी लगता है कि जीवन संयोगों की ही एक अविच्छिन्न शृंखला है।

संयोग ऐसे जुटे कि मानसरोवर के तीर पर विराजित अरिहन्त भगवन्तों के दर्शनार्थ अनेक विद्याधर राजा एकत्रित हुए। राजा महेन्द्र भी सपरिवार वहाँ गये थे। अन्य विद्याधर राजाओं में एक थे राजा प्रह्लाद। वे भी सपरिवार वहाँ आए थे। उनके एक युवा पुत्र था पवनंजय। धीर-गंभीर, और विद्यावान : राजा महेन्द्र ने अपनी पुत्री अंजना के लिए पवनंजय को सभी दृष्टियों से उचित वर समझा। बात हुई, और विवाह की तिथि भी निश्चित हो गई।

किन्तु काल को तो कठपुतलियाँ चाहिये थीं अपना खेल दिखाने के लिए····

अंजना की दासियाँ अनेक राजकुमारों के चित्र लाया करती थीं उसे दिखाने और देखकर निर्णय करने के लिए कि वह उन सब राजकुमारों में से किसे चुन लेती है अपने भावी पति के रूप में।

एक दिन दो चित्र देखे अंजना ने और उनमें से एक चित्र को देखकर वह स्वयं चित्रवत् स्थिर रह गई। देखा, और देखती ही चली गई। वह तो वसन्ततिलका थी वहाँ जो उसे झकझोरकर किसी स्वप्नलोक से यथार्थ की भूमि पर उतार लाई, अन्यथा अंजना तो डूब ही गई थी—उस चित्र-छवि की अतल गहराइयों में।

वह चित्र था पवनंजय का।

मुँहलगी बालसखी वसन्ततिलका ने छेड़ा—

"खो गईं राजकुमारी जी ! प्रभु कल्याण करें। ऐसा ही होता है।"

"क्या होता है वसन्त !"—अंजना ने चौंककर पूछा।

"बस, ऐसा ही होता है जब कोई किसी के मन में समा जाता है तब।"—वसन्ततिलका ने आँखें नचाते हुए उत्तर दिया।

"हूँ, देखती हूँ काफी अनुभव है तुझे किसी के मन में बसने का, क्यों ?"

"धत् ! मैं ठहरी एक दासी। मैं क्या जानूँ ये बातें ?"

"तो फिर अभी क्या बक रही थी ?"—अंजना ने पुनः अपनी दृष्टि उस चित्र पर पर जमाते हुए कहा।

"मैं बक नहीं रही थी और झक भी नहीं मार रही। ला, यह चित्र मुझे दे। मैं महाराज के पास जा रही हूँ यह शुभ सूचना देने.....।"

"नही-नहीं वसन्त ! यह चित्र तो मेरे ही पास रहने दे। तू ऐसे ही चली जा। कह देना.....।"

लाज भरा सौन्दर्य मुखर होते-होते मौन हो गया।

वसन्ततिलका ने मुस्कुराते हुए कहा—"अच्छा-अच्छा कह दूँगी। सब कुछ कह दूँगी, बस ?"—कहकर प्रसन्नता की लहर में कुछ गुनगुनाती चली गई वह।

और अंजना ? वह तो डूबी ही रह गई—किसी स्वप्नलोक के किसी प्रेम-सरोवर में। □

दो

शुभ विवाह की तिथि तीन दिन बाद हा थी। राजाओं को किसी भी कार्य की व्यवस्था करने में क्या देर लगती है ? फिर वे लोग थे विद्याधर। उनके लिए तो पलक झपकने का समय भी पर्याप्त होता है बड़े से बड़ा कार्य कर डालने के लिए। अत: वहीं मानसरोवर के तीर पर ही विवाह की सब तैयारियाँ आरम्भ हो गईं।

पवनंजय से रहा नहीं गया। अंजना जैसी अनिद्य सुन्दरी से उसका विवाह होगा यह जानकर वह तो आनन्दातिरेक में पगलाया-सा ही हो गया। अपने अभिन्न मित्र प्रहसित से उसने कहा—"चल मेरे साथ।"

प्रहसित ने खा-पीकर अभी पाँव पसारे ही थे। उसने कहा—"क्या मतलब ? तनिक सुस्ताने भी नहीं दोगे ? अभी-अभी तो भोजन किया है मैंने।"

"तेरा भोजन गया भाड़ में। उठता है कि नहीं ? चल उठ, वरना जबरदस्ती उठाकर ले जाऊँगा।"

"अच्छा ! तो यह बात है ? तब ऐसा क्यों नहीं करते कुमार कि उसी को उठा लाओ जिसके बिना घड़ी भर रहा नहीं जा रहा। या फिर तीन दिन ही तो हैं बीच में। फिर देख लेना जी भर कर·····।"

पवनंजय ने हाथ पकड़कर खड़ा कर दिया प्रहसित को और कहा—

"ये तीन दिन कैसे कटेंगे मित्र ! एक बार देख तो लूँ उसे। लोक में बड़ी प्रशंसा है उसकी·····और उसके रूप की·····।"

'केवल रूप की हो नहीं कुमार, गुणों की भी, जो कि प्रमुख हैं जीवन में। भाग्यवान हो तुम। किन्तु ऐसी अधीरता भी क्या शोभा देती है—तुम जैसे धीर पुरुष को ? मात्र तीन दिन·····।"

"तीन दिन नहीं प्रहसित, तीन युग—त्रिकाल, मेरे मित्र ! मैं नहीं जानता क्या होता जा रहा है मुझे। अनेक सुन्दरियाँ देखी हैं, अनेक गुण-

वती सुकन्याओं से भेंट होती ही रही है जीवन में। किन्तु इस अंजना ने जाने क्या जादू कर दिया है मुझ पर ! जब से सम्बन्ध हुआ है, पलभर भी शान्ति नहीं है मुझे एक बार उसे देखे बिना। यह कोई सामान्य आकर्षण नहीं है प्रहसित ! सत्य कहता हूँ। क्या तू जानता नहीं मेरे चरित्र को ? किन्तु यह कैसा आकर्षण है, कुछ कह नहीं सकता। ऐसा लगता है जैसे आत्मा पुकार रही है आत्मा को..... ।"

इतना कहकर पवनंजय मौन हो गया। उसकी दृष्टि कहीं शून्य में समा गई। आत्मस्थित-सा हो गया वह।

तब प्रहसित ने ही उस मौन को भंग किया। उसने समझ लिया था कि यह दो पवित्र पुण्यात्माओं का भावमिलन है और अब पवनंजय मानेगा नहीं। किन्तु किया क्या जाना चाहिये ? विवाह से पूर्व किसी कुमारी कन्या के पास जाना, उससे भेंट करना, चाहे पाप की कोई भावना दोनों पक्षों में न हो, फिर भी लोक-मर्यादा भी तो देखनी ही होती है। उसका विचार भी तो रखना होता है।

कुछ सोचकर आखिर वह बोला—

"अच्छा कुमार, यदि तुम्हारी आत्मा अपनी सम्पूर्ण पवित्रता के साथ इतने ही प्रबल आकर्षण का अनुभव कर रही है अंजना कुमारी से भेंट करने से लिए तो चलो, लेकिन..... ।"

"भेंट नहीं, दर्शन, प्रहसित ! मात्र दर्शन। कोई अनुचित व्यवहार करने की अकांक्षा नहीं है तुम्हारे मित्र की। हम कुमारी के आवास पर चलेंगे, उनके दर्शन करेंगे, संभव हुआ तो दो बोल सुन लेंगे उसके मधुर कंठ से और लौट आएँगे।"

"और जो लोग हमें देखेंगे वे क्या कहेंगे ?"

"कोई नहीं देखेगा हमें। हम अदृश्य होकर रहेंगे। अदृश्य और मौन।"

× × × ×

अपनी सहेलियों से घिरा अंजना तारा-मंडल में सुशोभित चन्द्रकला-सी दीख रही थी। उद्यान में चारों ओर खिले पुष्पों की शोभा और सुरभि ने वातावरण को स्वर्गीय बना दिया था। पक्षियों की चहचहाहट ने एक नैसर्गिक संगीत की सृष्टि की हुई थी। मृगछौने इधर-उधर कुलांचे भर रहे थे। सौन्दर्य, संगीत, आनन्द, पवित्रता और प्रेम की क्रीड़ास्थली बनी हुई थी वह वाटिका जहाँ अंजना अपनी सखियों के साथ विचरण कर रही थी।

शुभ दिन समीप था। हृदयों में उल्लास-उमंग थी। छेड़ रही थीं सखियाँ अपनी प्राणप्रिय स्वामिनी अंजना को। वह भी मग्न थी—सुख की कल्पना के अपने भावलोक में।

उसी समय अदृश्य शरीरी होकर पवनंजय और प्रहसित ने प्रवेश किया उस वाटिका में और किसी वृक्ष को छाया में खड़े होकर देखने लगे वे इस आनन्दमय क्रीड़ा-कौतुक को। पवनंजय ने अंजना को देखा। उसके अप्रतिम सौन्दर्य सुषमा को देखकर चकाचौंध हो गई उसकी आँखें। जाने कितनी देर तक सुध-बुध बिसारे वह अपलक देखता ही रहा अपने भाग्याकाश की उस मंगलतारिका को!

जब वह कुछ सचेत हो पाया तब प्रहसित ने उसके कान में कहा—

'बधाई है, कुमार! जैसा सुना था वैसा ही पाया न? चलो अब। आखिर ये लोग भी विद्याधरियाँ हैं। विद्याधरों का आवास है यह। कदाचित् किसी को हमारी उपस्थिति का आभास हो गया तो अशोभन प्रतीत होगा।"

'हाँ·····हाँ·····मित्र! ठीक कहते हो तुम, चलना ही चाहिये, चलो! किन्तु मन तो मानता ही नहीं·····।"

"मन कभी किसी का मानता नहीं मित्र! यदि उसे मनमानी करने दिया जाय तो! इस मन रूपी अश्व की वल्गा को कसकर थामना चाहिये यह बात क्या तुम जानते नहीं? आश्चर्य है, आजकल तुम इतने दुर्बल कैसे हो रहे हो·····?"

"मेरा मन दुर्बल नहीं, इस कुमारी का आकर्षण ही इतना प्रबल है प्रहसित! खैर, चलो, चलना तो है ही। किन्तु सुनो तो·····अरे, सुनो तो तनिक, अंजना कुछ कह रही है·····।"

मुँहलगी सखियों में छेड़खानी चल रही थी। अन्य कोई आसपास तो था नहीं, केवल एक-दूसरे को अंतरंग प्यार करने वाली सखियाँ ही थीं वहाँ। और स्वाभाविक ही था कि सारी छेड़छाड़ कुमारी के विवाह और उसके भावी पति पवनंजय कुमार को लेकर ही हो रही थी।

शायद थक गई होगी अंजना इस सारी छेड़छाड़ से या मस्ती में इधर-उधर भागते-दौड़ते। लाज और आनन्द के मिश्रित भावों से भरे उसके मुखमण्डल पर कुछ श्रम-सीकर उभर आए थे जो मोतियों-से चमक रहे थे। उन धवल मोतियों पर पड़ती अस्ताचलगामी सूर्य की किरणें अंजना के सौम्य-शालीन चेहरे को इन्द्रधनुषी आभा प्रदान कर रही थीं।

थक-हारकर अंजना एक स्फटिक शिला पर आ बैठी थी और उसकी एक सहेली अब भी उसे छेड़ रही थी—

"थक गईं मेरी प्यारी राजकुमारी जी ? हे जिनदेव ! अब क्या करें ? हम लोगों की सेवा से तो अब कुछ होना नहीं। अब यह थकान तो तभी दूर होगी जब कोई सुन्दर-सलौना-बाँका राजकुमार आएगा उड़ने वाले घोड़े पर होकर सवार"""""।"

"अब चुप भी कर कलमुँही ! मुझे नहीं अच्छा लगता यह सब।"

अंजना की इस प्रेमभरी फटकार का कोई असर नहीं हुआ सखियों पर। दूसरी बोली—

"थकी-मांदी बेचारी हमारी राजकुमारी को फिर वह सवार बड़े प्रेम से, बड़े जतन से, अपनी गोद में सुला लेगा"""""।"

"तुम लोग अब चुप होती हो कि नहीं ? बेशर्म नहीं तो।"—कृत्रिम क्रोध से कहा अंजना ने।

"""""फिर वह उड़ने वाला राजकुमार हौले-हौले पवन डुलाएगा अपने रेशमी उत्तरीय से और कहेगा—'मैं आ गया प्यारी अंजना, देखो तो जरा, आँखें तो खोलो, मैं आ गया तुम्हारा पवनंजय'"""""।"

आनन्द का अतिरेक का, भावनाओं का तुमुल उद्रेक था, सुख की सीमा थी—अथवा, अथवा कौन जाने भाग्य की विडम्बना ही थी कि अंजना और सह न सकी। हैरान होकर वह सहसा उठ खड़ी हुई और तमतमाया हुआ-सा चेहरा लिए एक ओर को चल दी।

हम जानते हैं कि वह अंजना के आसन्न सुख की सीमा ही थी जिसे उस क्षण अपने हृदय में समा लेना उसके लिए असह्य हो उठा था।

किन्तु काल को तो कठपुतलियाँ चाहिये थीं न, मनचाहे नाच नचाने के लिए ?

पवनंजय ने यह वार्तालाप सुना। अपना नाम सुना और अंजना को हैरान होकर उठकर चली जाते देखा"""""

और वज्रपात हो गया ?

अति सुख की असह्यता और नारीसुलभ लज्जा की भावना के कारण अंजना की उस सरल, स्वाभाविक भंगिमा एवं व्यवहार को पवनंजय समझ नहीं सका। उसे भ्रम हो गया। सन्देह का भीषण विषदन्त उसके सीने में गड़ गया। उसने सोच लिया कि अंजना को उसका नाम भी प्रिय नहीं, अंजना उससे प्रेम नहीं करती"""""।

कितना कठोर था वह क्षण ! कैसी भयानक थी वह भूल । उस एक क्षण की उस भ्रामक स्थिति ने कितना-कितना भरमाया-भटकाया स्नेह से परिपूर्ण उन दो आत्माओं को ।

किन्तु परीक्षा होनी थी सो होनी ही थी । और होनी को अपना जाल फैलाना था सो उसने फैला ही दिया ।

कहते हैं कि अग्नि में तपकर ही कंचन कुन्दन बनता है । अंजना अपने अन्तर्मन के गहरे से गहरे तल तक पवित्र थी । किन्तु भाग्यलेखा को अपने लेख लिखने ही थे····· ।

× × × ×

अपने मित्र के साथ पवनंजय अपने आवास पर लौट आया । मार्ग में एक शब्द भी वह बोला नहीं । प्रहसित को उसका यह ढंग, उसकी यह चुप्पी, उसकी यह उदासी कुछ समझ में नहीं आई । अंजना और उसकी सहेलियों के बीच हुए वार्तालाप को उसने भी सुना था, अंजना का व्यवहार उसने भी देखा था और उसके मन में किसी प्रकार का कोई भ्रम उत्पन्न नहीं हुआ था । उसने सारी परिस्थिति को ठीक से समझा था । जबकि पवनंजय, प्रेमी पवनंजय भ्रम का शिकार हो गया था ।

बड़े शकालु होते हैं प्रेमी ।

पवनंजय को इस प्रकार गुमसुम और दुःखी देखकर उसने पूछा—

"क्यों मित्र ! क्या बात है ? तुम ऐसे उदास और मौन क्यों हो गए अचानक ? तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिये । अपनी भावी पत्नी के दर्शन करने गए थे, कर आए, अब क्या हो गया तुम्हें ?"

"कुछ नहीं प्रहसित, मुझे अकेला रहने दो मेरा मस्तिष्क ठिकाने नहीं है ।"

"वह तो देख ही रहा हूँ, किन्तु उसका कारण क्या है, यही जानना चाहता हूँ ।"

'कुछ नहीं, कोई कारण नहीं ।"

"झूठ ! असंभव ! बिना कारण के भी कभी कार्य हुआ है कहीं ? जहाँ धुँआ होगा वहाँ अग्नि का भी होना अनिवार्य है ।"

"अग्नि ही है, प्रहसित ! भीषण दावानल सुलग उठा है मेरे हृदय में ।"

"दावानल ? यह तुम क्या कह रहे हो पवन ! कैसा दावानल ? क्या प्रेम के लहराते शीतल सरोवर में भी दावानल की उपस्थिति संभव है ? कुछ स्पष्ट कहो । क्या बात है ? मुझे कुछ समझ में नहीं आता ।"

"समझ में तो मुझे भी कुछ नहीं आ रहा प्रहसित, किन्तु जो कुछ आँखों से देख आया हूँ उसका क्या करूँ ? अंजना मुझे प्यार नहीं करती·····"

"बकवास मत करो पवनंजय ! यह निरर्थक विचार तुम्हारे मस्तिष्क में कहाँ से आ गया ? वह तो बेचारी तुम्हारे प्रेम में आकण्ठ डूबी हुई है। अब तक हमारे चरों ने जो सूचनाएँ हमें दी हैं वे सब इस सत्य की साक्षी हैं। तथा हम स्वयं भी तो अभी-अभी सब कुछ अपनी ही आँखों से देख-कर आए हैं ·····।"

"यही तो रोना है मित्र, अपनी ही आंखों से देख लिया है कि वह मुझे प्रेम नहीं करती। और इसका अर्थ है कि वह अन्य किसी पुरुष के प्रेम-जाल में आबद्ध है·····।"

"चुप रहो कुमार, चुप रहो अब तुम। एक शब्द भी यदि अब तुम अंजना कुमारी के निर्मल चरित्र के विरुद्ध बोले तो समझ लेना कि मेरी और तुम्हारी मैत्री का वह अन्तिम क्षण होगा। विस्मय है। पागलपन की पराकाष्ठा है। नासमझी की सीमा है। तुम्हारे जैसे धीर-गम्भीर व्यक्ति के मुख से यह बात सुनकर मेरी इच्छा होती है कि किसी शिला से टकराकर अपना सिर फोड़ लूँ। आखिर किस अधार पर तुम यह लांछन कैलाश के समान पवित्र उस कुमारी पर लगा सके ?"

प्रहसित के इस आवेशमय भाव-विस्फोट को देखकर क्षण भर के लिए पवनंजय डोल उठा। फिर धीरे-धीरे, स्वयं पर संयम करता हुआ बोला—

"क्रोध न करो मेरे मित्र ! मैं तो वैसे ही दुःखी हूँ। तुम भी यदि मुझसे रूठ जाओगे तो फिर मेरी क्या दशा होगी ? तनिक सोचो तो सही·····।"

"क्या सोचूं ? अपना सिर ? पागल की तरह व्यवहार कर रहे हो, मूर्खों की तरह जो मुँह में आया वह ऊलजलूल बक रहे हो और कहते हो कि सोचो तो सही। साफ-साफ बताओ कि ऐसी क्या बात तुमने अंजना कुमारी के व्यवहार में देख ली जिससे कि तुम उस पर अविश्वास कर रहे हो ?"

"प्रहसित ! मेरे मित्र ! अब शान्त होकर ही कहता हूँ। तुम भी शान्ति से सुनो ! सुना था न तुमने, उसकी सहेलियां क्या कह रही थीं ? वे कह रही थीं—कोई आएगा राजकुमार·····कहेगा, मैं आ गया, मैं आ गया तुम्हार पवनंजय—और फिर क्या देखा था तुमने, बोलो ? मेरा नाम

सुनते ही क्या अंजना उठकर खड़ी नहीं हो गई थी ? उसका चेहरा देखा था तुमने उस समय ? कैसी उपेक्षा से, या घृणा से मुँह फेर कर चली गई थी वह ?"

यह सुनकर प्रहसित स्तब्ध-सा रह गया। उसे सूझा ही नहीं कि वह रोए या हँसे। कुछ क्षण उसने देखा अपने मित्र के चेहरे को चुपचाप और फिर कहा उसने—

"कुमार ! तुम्हारे जैसे विवेकशील पुरुष भी प्रेम की आँधी में अन्धे हो सकते हैं – या यह कहूँ कि भावनाओं के वशीभूत होकर बालकों जैसी मूर्खता कर सकते हैं, यह आज ही देखा, आज ही जाना। अरे पगले, सुन मेरी बात····· " इतना कहकर प्रहसित ने अपनी बांह पवनंजय में के गले में डाली और आगे कहा—"तू इतना अविचारी कैसे हो गया पवन ! कुमारी अंजना जो उठकर चली गई वह क्या इसलिए था कि वह तेरा नाम सुनना नहीं चाहती थी ? उसे तेरे नाम के प्रति उपेक्षा या घृणा थी ? पागल, पागल है तू ! मूर्ख है तू !"

यह कहता हुआ प्रहसित उठा और खूब जोर से हँसा। हँसते-हँसते शायद उसकी आँखों में पानी भी भर आया होगा। अपने उत्तरीय से उसने अपनी आंखो को पोंछा, पलटकर पवनंजय को देखा, फिर कुछ देर तक हँसता ही रहा····· ···

पवनंजय विमूढ़-सा बैठा था। वह जान नहीं पाया कि प्रहसित के इस प्रकार हँसने का कारण क्या है ?

प्राय: ऐसा ही होता है कि जब एक बात, सही या गलत, कोई एक बात किसी के दिमाग में बैठ जती है तो फिर सरलता से वह निकल नहीं पाती। क्योंकि दृष्टि तब एकांगी हो जाती है। किसी एक ही दृष्टिकोण से देखी-जानी-समझी बात सत्य नहीं होती, या कहा जाय कि पूर्ण सत्य नहीं होती। प्रत्येक वस्तु के, प्रत्येक स्थिति के अनेक आयाम होते हैं। उन सभी आयामों से देखने पर ही वस्तु का, सत्य का सही दर्शन होता है।

एकान्त अधूरा है। अनेकान्त ही पूर्ण है, सम्पूर्ण है।

"देख पवन ! मेरी बात को ध्यान से सुन ! और गुन ! मैंने अभी प्रेम नहीं किया है, अर्थात् इस रूप में—किसी को जीवन संगिनी बनाने के रूप में। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि मैं प्रेम के अर्थ को समझता नहीं या कि मैंने प्रेम को जाना ही नहीं है। मैं तुझे प्रेम करता हूँ। अपने माता-पिता, भाई-बहन, अन्य परिजन, अन्य मित्रगण, सभी जीवों—यहाँ तक कि

इस आकाश, पृथ्वी, समस्त प्रकृति, सम्पूर्ण चराचर को क्या मैं प्रेम नहीं करता ? करता हूँ, पवन ! मैं भी प्रेमी हूँ ।

"लेकिन तेरे जैसा प्रेमी नहीं । तूने अंजनाकुमारी को प्रेम किया और उस प्रेम ने तुझे मुक्ति प्रदान करने के स्थान पर ईर्ष्यालु बना दिया । यह उल्टी बात हो गई । प्रेम तो मनुष्य को महत् से महत्तर बनाता है मेरे मित्र ! मनुष्य के हृदय के बन्द कपाटों को खोलकर उसे एक वृहत्तर संसार के दर्शन कराता है । उसे उदार एवं महामना बनाता है । ऐसा ही होना चाहिये । यदि ऐसा नहीं होता तो मानना चाहिये कि वहाँ प्रेम नहीं, पागलपन हुआ है ।

"मैं मानव-मन की कमजोरी को समझ सकता हूँ, उसे स्वीकार भी करता हूँ । विशेष रूप से एक प्रेमी हृदय की भावनाओं का विचार भी मैं कर रहा हूँ । कुछ स्वाभाविक भी है कि वह अपने प्रेम के आधारबिन्दु पर अपना एकाधिकार चाहता है । ऐसा होना तो नहीं चाहिये, किन्तु मान लेता हूँ कि कुछ समय के लिए ऐसा हो सकता है । किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि प्रेमी की दृष्टि ही सदोष हो जाय ? और इतनी सदोष कि वह यथार्थ को ही न जान-समझ सके ?

"क्या तू नहीं जानता कि कोई भी कुमारी कन्या अपने पवित्र हृदय में बड़ी कोमल होती है ? अपनी कल्पनाओं, अपने सपनों, अपनी आकांक्षाओं को सफल होते देखकर वह अवश्य सुखी होती है । बल्कि सुख का अतिरेक उसे एक विशिष्ट भावानुभूति में ले जाता है । किन्तु यह सब होते हुए भी नारी-सुलभ लज्जा उसका आँचल छोड़ नहीं सकती । वह लज्जा उसका भूषण होता है । तेरा नाम ले-लेकर अंजनाकुमारी की सखियाँ जब उसे बार-बार छेड़ रही थीं तब वह बेचारी कहाँ तक सहन करती ? सुख के अतिरेक तथा लाज के मारे वह घबरा उठी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्या अनर्थ हो गया यदि वह उठकर चल दी तो ? अपनी मुँहलगी सहेलियों के बीच उसका यह वर्तन सहज स्वाभाविक तथा हँसी-ठिठोली के बीच बिल्कुल सामान्य व्यवहार ही हो सकता है । तूने इस व्यवहार को अपने प्रति उपेक्षा मान लिया ? मुझे विस्मय होता है तेरी इस विवेकबुद्धि पर ।"

मित्रों का यह वार्तालाप मानसरोवर के तीर पर आदित्यपुर के राजा प्रह्लाद के अस्थाई आवास की एक वाटिका में हो रहा था । पवनंजय गंभीर था । प्रहसित उत्तेजित । उसे भय था कि कहीं पवनंजय अपनी भूलभरी, भ्रामक जिद पर अड़ा रहकर समस्त सुखद संभावनाओं का सत्यानाश न कर डाले । वह मनोविज्ञान का पंडित था । उसने पूरा प्रयत्न किया

कि पवनंजय को वस्तुस्थिति की समझ आए और वह बनती हुई बात को को बिगाड़ न बैठे।

और प्रश्न केवल किसी अच्छी बनती बात के बनने-बिगड़ने का ही नहीं, एक निर्दोष, पवित्र कुमारी कन्या के उज्ज्वल चरित्र पर लगाए जाने वाले अनुचित कलंक का भी था।

अतः प्रहसित ने पवनंजय को समझाने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी।

किंतु पवनंजय मूक शिला की भांति बैठा था, जैसे उसने कुछ सुना ही न हो।

समीप ही हरी, कोमल घास के मैदान में कुछ कपोत, मयूर तथा अन्य पक्षी निर्द्वन्द्व विचरण कर रहे थे। सृष्टि का सारा सुख जैसे उनकी निष्काम केलि में समाया हुआ था।

उसी समय पवनंजय ने देखा—एक श्वेत कपोत-कपोती का युगल आपस में आनन्द-क्रीड़ा करता हुआ ठुमक-ठुमक इधर-उधर विचर रहा था। इसी बीच एक अन्य कपोत किसी वृक्ष की शाखा से उड़कर उस युगल के समीप आ बैठा और अपनी सुन्दर ग्रीवा को फुलाकर आस-पास ही चक्कर काटने लगा। कपोती ने उस नए आए कपोत को निहारा, कुछ क्षण यहां-वहां उसके आस-पास दो-चार चक्कर काटे और फिर वह नया आया हुआ कपोत तथा वह कपोती एक साथ किसी एक दिशा में उड़ गये। उस कपोती के साथ पहले जो कपोत क्रीड़ानिरत था वह बेचारा टुकर-टुकर देखता ही रह गया।

संयोगों का सिलसिला और आगे बढ़ा.....

इस सामान्य-सी घटना का प्रभाव पवनंजय के मस्तिष्क पर और भी उल्टा हुआ। अपने मित्र प्रहसित के सदुपदेश तथा सच्ची सलाह का कुछ प्रभाव उसके मन पर हो न हो कि इतने में ही यह घटना घटित हो गई और उसके विचारों ने गहरी हठ का रूप धारण कर लिया।

उसने प्रहसित की ओर देखा और कहा—

"मित्र, मैं जानता हूँ कि तुम सदा मेरे हित की बात कहते हो। एक सच्चे मित्र का कर्त्तव्य भी यही है। किन्तु इस विषय में तुम मुझे क्षमा करो। मैं तुम्हारे कथन से सहमत नहीं हो सकूँगा।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् मैं राजकुमारी अंजना से विवाह नहीं करूँगा।"

प्रहसित के सिर पर जैसे किसी ने कोई शिला दे मारी। उसे लगा, जैसे वह संज्ञाशून्य होता जा रहा है। पवनंजय के इन शब्दों ने उसके मर्मस्थल को बेध डाला था। इस आघात से उबर सकने में उसे कुछ समय लगा।

फिर वह उठकर खड़ा हुआ। एक बार शायद मन ही मन उसने प्रभु वीतराग का स्मरण किया और फिर भारी, गंभीर स्वर में उसने पवनंजय से कहा—

"कुमार! मुझे लगता है कि किसी अनिष्ट शक्ति ने तुम्हारे मन-मस्तिष्क पर अपना राक्षसी जाल फैला दिया है। राई का पहाड़ बनने का मुहावरा तो सुना है, किन्तु जहाँ राई भी न हो वहाँ पर्वत की कल्पना कर लेना सीमाहीन मतिभ्रम के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? पवन! मेरे अभिन्न मित्र! मेरे आत्मीय! समय रहते सचेत हो जाओ, मैं प्रार्थना करता हूँ, अन्यथा समय व्यतीत हो जाएगा और फिर शेष रह जाएगा केवल सर्वनाश।"

"वह तो हो ही चुका है प्रहसित, अब शेष रह ही क्या गया है?"

"शेष रहा है। एक निर्दोष बाला का सर्वनाश, सो तुम करने पर उतारू हो। शेष रहा है तुम्हारे माता-पिता का वचन भंग, सो तुम कर डालो। तुम इतना तो जानते ही हो कि प्रतिष्ठावान मनुष्य का वचनभंग उसे अपनी मृत्यु से भी अधिक पीड़ादायक होता है। अपनी एक निराधार भ्रामक कल्पना से तुम यह सब करने के लिए कटिबद्ध हो रहे हो। अब तुम्हें मैं क्या कहूँ? कैसे तुम्हें कुछ समझाऊं? काश! तुम मेरे मित्र न होते.....।"

"क्या होता तब?"

"तब मैं तुम्हारे गाल पर एक तमाचा मारता और कहता—कायर! लज्जा नहीं आती तुझे एक निर्दोष अबला पर ऐसा भीषण अत्याचार करते हुए? और फिर कहता है कि जा, नपुंसक, कहीं चुल्लू भर पानी में डूबकर मर जा। निर्दोष बालिका पर लांछन लगाने वाले अभागे की सूरत नहीं देखता मैं जीवनभर..... ।"

बहुत प्रिय था पवनंजय प्रहसित को। प्रगाढ़ मैत्री थी उन दोनों युवकों में। किन्तु परिस्थिति की विषमता ने ये कड़वे शब्द भी कहलवा दिये प्रहसित के मुख से।

उसे दुःख था। किन्तु विवशता थी। ऐसा घोर अनर्थ करने पर

उतारू अपने मित्र को वह और क्या कहता ? आँखें उसकी भर आई थीं। हृदय उसका टूक-टूक हुआ जा रहा था। सह नहीं सका वह पवनंजय की उपस्थिति और दूर एक लताकुञ्ज में जाकर किसी प्रस्तर खंड पर बैठ गया, अपना सिर थामें जो चकरा रहा था।

पवनंजय ने यह सब सुना, देखा, किन्तु वह हिला नहीं। जड़ हो गया था उसका मस्तिष्क, पत्थर बन गई थी उसकी काया।

× × × ×

प्रहसित को क्या पड़ी थी कि वह इतना दुःखी होता ? उसका क्या बिगड़ता था यदि पवनंजय अंजनाकुमारी से विवाह न करे तो ? क्या लेना-देना था उसे पवनंजय के माता-पिता का अंजना के माता-पिता को दिए हुए वचन का भंग होने पर ? यह तो संसार है। इस संसार में क्या नहीं होता ? सभी कुछ होता है इस संसार में। पाप होता है, पुण्य होता है। धर्म होता है, अधर्म होता है। सत्य का प्रकाश फैलता है इस सृष्टि में, और अन्धकार की छाया भी घिरती है इसी सृष्टि पर—असत्य के अन्धकार की घनी, काली, प्राणलेवा छाया।

तो क्या पड़ी थी प्रहसित को कि वह इतना दुःखी होता ?

मित्र था वह पवनंजय का।

क्या कर्त्तव्य होता है एक मित्र का अपने मित्र के प्रति ?

सिद्धान्त में उत्तर जितना सरल है, व्यवहार में उतना ही कठिन।

कितने होते हैं सच्चे मित्र इस संसार में ? स्वार्थ की दुनियाँ है यह, कहा जाता है और दिखाई भी ऐसा ही देता है। स्वार्थ-साधन होता रहे तब तक सब कुछ ठीक है, मित्रता है। किन्तु स्वार्थ न सधे तो मित्रता को एक किनारे कर दूर चले जाते क्या देर लगती है लोगों को ?

कथा पुरानी है।

वह समय और ही था। उस समय में लोग ऐसे नहीं थे जैसे आज हैं। उनका एक व्यक्तित्व था। उस व्यक्तित्व में गहराई थी, निष्ठा थी। स्वार्थ नहीं था, परमार्थ की भावना से वे प्रेरित होते थे।

प्रहसित पंडित था। मनोविज्ञान उसे सहज साध्य हुआ था। अपने मित्र पवनंजय की उस स्थितिविशेष से वह गंभीर रूप से चिन्तित और दुःखी था। किन्तु उसने विवेक का आँचल अपने हाथों से छूटने नहीं दिया।

अपने आँसुओं को उसने पोंछ डाला। अपने हृदय को उसने दृढ़ किया और उठकर पवनंजय के पास आकर प्रेमपूर्वक उसके कन्धे पर हाथ रखकर बोला—

"अच्छा पवन ! मेरी एक बात सुनोगे ?"

"सुन रहा हूँ।"—पवनंजय ने जड़भाव से उत्तर दिया।

"केवल सुनोगे ? समझोगे नहीं ? मानोगे नहीं ?"

"समझने का प्रयत्न भी करूँगा।"

"ठीक है। समझ लोगे तो वही पर्याप्त होगा। क्योंकि समझ लोगे तो फिर मानोगे भी, क्योंकि अविचारी तो तुम नहीं हो। शास्त्रों का अध्ययन किया है तुमने। लोकाचार से अपरिचित भी नहीं हो·····।"

"कहो, जो कहना चाहते हो। प्रशंसा रहने दो।"

प्रहसित के हृदय पर पवनंजय के इस वाक्य से फिर एक आघात लगा। किन्तु उस सच्चे मित्र ने उसे सह लिया और कहा—

"तुम्हारी प्रशंसा करके मुझे कोई राज्य नहीं चाहिये पवनंजय ! मैं केवल अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ। तुम क्या करते हो और क्या नहीं, यह अब तुम्हारे निर्णय करने की बात रह जायगी। मेरा कर्त्तव्य है तुम्हें सही और सच्ची सलाह देना। सो मैं करता हूँ····· ।"

"काफी लम्बी हो गई भूमिका, प्रहसित ! अब कहो, क्या कहना चाहते हो ?"

"कहता हूँ। स्पष्ट कहता हूँ और अब संक्षेप में ही कहता हूँ। तुम्हारे कान हों तो सुन लेना। तुम्हारा मस्तिष्क विमूढ़ न हो गया हो तो समझ लेना। पवनंजय ! तुम्हें भ्रम हुआ है। अंजनाकुमारी तुम्हें प्रेम करती है। वह निर्दोष और पवित्र है। तुम्हें उससे विवाह करना ही होगा। कोई अधिकार नहीं है तुम्हें अब इस विवाह से इन्कार करके उस पवित्रात्मा का लांछित करने तथा अपने पूज्य माता-पिता को वचनभंग का दोषी बनाने का। यदि तुमने ऐसा नहीं किया तो जानते हो क्या होगा ?"

क्षण, दो क्षण, पवनंजय ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि प्रहसित के मुख पर स्थिर की। मौन छाया रहा वातावरण में। फिर उसने पूछा—

"क्या होगा प्रहसित ! कहो तो····· ।"

"प्रलय होगा। एक निर्दोष, सुकोमल, पवित्र, हृदय के टुकड़े हो जायेंगे और वे टुकड़े समूची सृष्टि में भीषण प्रलय का तांडव करेंगे····

"और बताऊँ, क्या होगा ? अकारण, निराधार किये गये तुम्हारे इस कुकर्म के कारण लज्जा और ग्लानि से घुटकर तुम्हारे माता-पिता जीवित नहीं रह सकेंगे।

"और बताऊँ, क्या होगा ? इतिहास तुम्हारे नाम पर थूकेगा, पवनंजय ! इतिहास चीख-चीखकर कहेगा कि पवनंजय कायर था। सुन सकोगे इतिहास की यह आवाज ?

"एक और भी बात होगी मेरे मित्र ! यह प्रहसित यदि मैत्री की भावनाओं के वशीभूत होकर तुम्हारा शिरच्छेद न भी कर सका तो कम से कम एक बात अवश्य करेगा—अपना सिर उतार कर रख देगा अंजनाकुमारी के चरणों में, इस आशा के साथ कि शायद वह तुम जैसे मूर्ख और कायर को क्षमा कर दे..... ।"

इतना कहकर प्रहसित तीव्रता से मुड़कर उस वाटिका से बाहर किसी सूनी पगडण्डी पर तेज-तेज कदमों से, डगमगाती-सी गति से, चल पड़ा। उसने फिर पलटकर देखा भी नहीं पवनंजय की ओर।

प्रहसित आन्तरिक पीड़ा से विभोर था। छटपटा रहे थे उसके प्राण। वह तेजी से चल पड़ा था किन्तु कदम उसके लड़खड़ा रहे थे।

पवनंजय ने उसे इस स्थिति में जाते देखा। उसके प्राणों में एक विचित्र-सी टीस उठी। प्रहसित के वज्र-कठोर शब्दों ने शायद उसके पत्थर मन को कुछ पिघला भी दिया था। विवश हो गया वह पुनर्विचार के लिए।

उठकर वह दौड़ ही पड़ा। दूर-दूर जाते प्रहसित को उसने जोर से पुकारा—"प्रहसित ! प्रहसित ! सुनो ऽऽ सुनो जरा मेरे मित्र..... !"

प्रहसित ने वह पुकार सुनी, मुड़कर देखा और ठहर गया।

समीप आने पर पवनंजय ने कहा—"प्रहसित ! मैं तुम्हारी बात माने लेता हूँ। यह विवाह अपने निर्धारित स्वरूप में होगा। किन्तु.....।"

"किन्तु ? किन्तु क्या ?"

"किन्तु तुम मुझे विवश नहीं करोगे कि मैं अंजनाकुमारी से वही सम्बन्ध रखूँगा जो पति-पत्नी के होते हैं।"

प्रहसित ने बड़े ध्यान से, पूरी गंभीरता से यह बात सुनी। कुछ सोचा और कहा—

"ठीक है, पवनंजय ! सुबह के भूले को शाम तक घर लौटने में कुछ समय लग सकता है, किन्तु वह लौट ही आता है। तुम भी उसी श्रेणी में हो इस समय। भूले हो, भटके हो, भ्रमित हो। किन्तु मेरी आत्मा कहती है कि तुम शाम पड़े घर अवश्य लौटोगे। और भूले-भटके जब तुम घर लौटोगे तब अपने इस मित्र को याद करोगे। चलो अब, बहुत हुआ। सूर्यास्त की बेला हो चली है। लेकिन जानते तो हो न पवनंजय कि प्रत्येक सूर्यास्त के बाद फिर सूर्य का उदय भी होता है ?"

दोनों मित्र अपने आवास की ओर लौट आए। □

तीन

विवाह की धूमधाम ने शान्त मानसरोवर के तीर पर उत्सव रचा दिया। प्रकृति के निःशब्द संगीत के साथ विद्याधरों के स्वर्गीय संगीत ने मिलकर एक ऐसे आनन्द की सृष्टि करदी जिसका वर्णन लेखनी द्वारा तो संभव नहीं। वह आनन्द केवल अनुभवगम्य ही था।

अंजनाकुमारी परम सुन्दरी थी। फिर नववधू के वेष में उसके शृंगार ने तो उसके रूप को शतगुणित कर दिया था। देखने वालों की आँखें उस चन्द्रमुखी के आनन पर ठहर ही नहीं पाती थी, फिसल-फिसल जाती थीं। उसके हृदय में उल्लास था, आशा थी, सुख था, शान्ति थी और सपने भी थे। प्रत्येक कुमारी कन्या के लिए विवाह का प्रसंग उसके जीवन की एक अविस्मरणीय, चरम उत्कंठा की बात होती है। कैसे-कैसे स्वप्न होते हैं कोमल कन्या के अन्तरतम में? कितनी मधुर कल्पनाएँ होती हैं। पति के रूप में जीवन के साथ सदा-सदा के लिए जुड़ जाने वाले पुरुष के व्यक्तित्व के विषय में कितनी मीठी-मीठी जिज्ञासाएँ होती हैं?

इन्हीं सब कल्पनाओं, जिज्ञासाओं, सपनों से आन्दोलित था अंजना का हृदय भीतर ही भीतर। ऊपर से वह शान्त थी। मानसरोवर के प्रशान्त विस्तार की तरह।

पवनंजय गंभीर था। उसके माता-पिता, अंजना के माता-पिता, अन्य परिजन तथा समस्त उपस्थित लोक-समूह उसके इस गांभीर्य के रहस्य को नहीं जानता था। सभी ने इसे उसकी शालीनता, सौम्यता और शिष्टता ही माना था। अंजनाकुमारी ने भी जब-जब लाजभरी चितवनों से उसे देखा तो यही समझा। क्या जान सकती थी वह बेचारी कि पवनंजय की इस शांत मुद्रा की तह में कोई तूफान घुमड़ रहा है? कैसे जान सकती थी वह? किसी भी प्रकार के अनिष्ट की आशंका या अनुमान उस सरलमना पवित्रात्मा को होता भी तो क्योंकर?

एक प्रहसित ही था जो जानता था।

किन्तु वह यह भी जानता था कि सुबह का भूला शाम को लौटकर

ही रहेगा। अटल निश्चय था उसका कि वह अपने मित्र को सीधा राह पर लाकर ही मानेगा। आज नहीं तो कल, पवनंजय की आँखों पर घिर आया भ्रम का परदा हटेगा ही, प्रहसित उसे हटाकर ही रहेगा।

विधि के विधान को उस समय चुपचाप स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर था और प्रतीक्षा करनी थी भाग्य के उस लेख को अपनी इतिश्री तक पहुँच जाने देने की। उसके बाद तो अन्धकार का आवरण हटेगा ही, सूर्य का निर्मल प्रकाश फैलेगा ही—प्रहसित को पूर्ण विश्वास था, अडिग आस्था थी।

विवाह-विधि सम्पूर्ण हुई।

वीतराग भगवन्त के श्री चरणों में साष्टांग नमन कर वर-वधू ने धर्म-पालन का शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। सब लोग अपने-अपने नगरों को लौट गए।

और फिर आई वह रात्रि जिसे कवियों ने 'मधु रजनी' की संज्ञा दी है।

अंजनाकुमारी के जीवन की वह मधु रजनी आई.....और उड़ भी गई।

सारी रात उत्कंठा से, आशा से अपलक प्रतीक्षा करती रही अंजना अपने प्राणप्रिय पतिदेव की घड़ी, दो घड़ी, अर्धरात्रि, तृतीय प्रहर..... क्या हो गया? आए नहीं अब तक वे। कितनी देर हो गई.....कितनी देर हो गई.....कितनी देर हो गई.....

केवल देर ही नहीं, अंजना के लिए तो अंधेर भी हो गया।

पवनंजय नहीं आया।

मधु की मधुरता और मादकता से भरी मधु रजनी जहर भरी काल-रात्रि हो गई अंजना के लिए।

निराशा, दुःख और आशंका के कठोर आघात ने बेभान कर दिया अंजना को और वह निढाल होकर गिर पड़ी—विकल, विमूर्च्छित।

× × × ×

सन्नाटा!

आदित्यपुर के उस चहल-पहल तथा हर्षोल्लास से भरे सतखंडे महल में शुभ प्रभात की बेला में ऐसा सन्नाटा?

आश्चर्य और आशंका से भरे सैकड़ों दास-दासियाँ स्वचालित मूर्तियों के समान, मौन, सकपकाए-से अपने-अपने दैनन्दिन कार्यों में लगे

इधर-उधर आ-जा तो रहे थे, किन्तु उनकी वाणी मूक थी। उनके हृदय दुःख से भरे हुए थे।

अन्तःपुर में क्या घटित हुआ यह बात एक से दूसरे व्यक्ति तक धीरे-धीरे आखिर पहुँच ही गई थी और कोई समझ नहीं पाया था कि ऐसा होने का कारण क्या हो सकता है ? अंजना जैसी सुन्दर, गुणवती, सुशीला नव-वधू को प्राप्त करके भी हमारे राजकुमार पवनंजय को क्या हो गया अचानक कि वे अपनी सुहागरात को भी वधू के कक्ष में गए तक नहीं ? एक बार जाकर झांका भी नहीं ? एक बात भी नहीं की ?

घटना पवन के पंख लगाकर सारे नगर में फैल गई। सारा नगर स्तब्ध सा रह गया। आदित्यपुर के सुखी नागरिक कल तक आनन्द और उल्लास में डूबे उत्सव-निमग्न थे। सहसा उनका उत्साह हत् हो गया। वे दिग्मूढ़ से हो गए और एक-दूसरे से काना-फूसी करने लगे—

"बन्धु ! कुछ सुना तुमने ?"

"सुना भाई, सुना तो है, किन्तु विश्वास नहीं होता।"

"बात है ही ऐसी। कैसे हो विश्वास ?"

"अंजना देवी के रूप और गुण की प्रशंसा तो चारों दिशाओं में फैली है बन्धु, फिर हमारे राजकुमार..... !"

"हमारे राजकुमार क्या किसी से कम हैं ? देवताओं को भी ईर्ष्या हो ऐसा रूप है उनका। ऋषि-मुनियों को भी प्रिय लगे ऐसा सात्विक, शीलमय जीवन है उनका..... ।"

"यही तो विस्मय की बात है भाई मेरे ! जब ऐसा ही है तब फिर क्या बात हो सकती है कि राजकुमार ने अपनी सुहागरात को भी ऐसी घोर उपेक्षा की राजकुमारी अंजना की ?"

"कुछ समझ में नहीं आता।"

"भाग्य की लीला भी विचित्र ही है।"

"क्यों जी, जरा इधर आओ, मेरे पास। सुनो, क्या ऐसा हो सकता है कि राजकुमार ने अंजना देवी के चरित्र में..... ।" कहने वाला अपना वाक्य पूरा कर भी नहीं पाया था कि सुनने वाले ने एक तमाचा जड़ दिया कहने वाले के मुँह पर। वह अपना गाल सहलाने लगा। सुनने वाले ने कहा—

'बेशर्म ! तेरी जुबान नहीं गिर गई ऐसे शब्द अपने मुख से निकालते हुए ? अंजना देवी जैसी पवित्र नारी के विषय में तू ऐसे विचार अपने दिमाग में ला भी कैसे सका ?"

"अरे भाई, नाराज क्यों होते हो ? मेरा मतलब यह थोड़े ही था कि देवी के चरित्र में कोई दोष है। प्रभु क्षमा करें, वे ही साक्षी हैं। मैं तो ऐसा सोच भी नहीं सकता।"

"तब बोला क्यों ऐसा ?"

"मस्तिष्क भ्रमित हो रहा है बन्धु ! कुछ सूझता नहीं। जब कोई अन्य कारण समझ में आता ही नहीं, तब..... ।"

"नहीं आता तो आ जाएगा। होगी कोई बात। बड़े आदमियों की बातें बड़े आदमी जानें। हम तुम क्या समझेंगे ?"

"यों तो ठीक कहते हो भाई, किन्तु हम छोटे आदमियों के भी दिल तो हैं ही न ? दुःख तो हमें भी होता है न ?"

"सो तो तुम ठीक कहते हो भाई ! क्षमा करना, मैंने तुम्हें भावावेश में तमाचा मार दिया ..... ।"

"अरे छोड़ो वह बात, तुमने क्या कोई दुश्मनी निकाली है ? असल प्रश्न तो यह है कि यह हो क्या गया ?"

"ठीक कहते हो, असल प्रश्न तो यही है..... ।"

और उस असल प्रश्न का उत्तर सारी राजधानी में किसी के पास नही था।

उत्तर यदि कहीं था तो पवनंजय के भ्रम भरे हृदय में या फिर उसके मित्र प्रहसित के पास।

शायद यह कहना भी गलत ही हो कि उत्तर उन दोनों मित्रों के पास था। ठीक तो शायद यही कहना होगा कि उत्तर निहित था कहीं कर्म-गति में, जो टारे टरती नहीं, कभी किसी काल में।

ऐसा कैसे संभव था कि इतनी बड़ी, इतनी विषादपूर्ण घटना घटित हो जाती और राजा प्रह्लाद तथा रानी केतुमति को उसकी सूचना न मिलती। अथवा सूचना मिलने पर वे निर्लिप्त रह पाते ? प्राणों से प्रिय पुत्र पवनंजय और आँखों की तारिका पुत्रवधू अंजना के बीच ऐसी दुराव-पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाय और वे माता-पिता दुःखी न हों ? अन्तःपुर की दासी से महारानी तथा महारानी से महाराज को सूचना प्राप्त होते ही उन्होंने पुकार लगाई—

"कोई है ?"

द्वारपाल हाथ जोड़े उपस्थित हुआ—"आज्ञा प्रभु !"

"कुमार पवनंजय अपने आवास में हैं ?"

"सूचना करता हूँ प्रभु !"—सिर झुकाए द्वारपाल ने उत्तर दिया।

"शीघ्र उन्हें यहाँ बुला भेजो।"—महाराज का आदेश होते ही द्वारपाल सिर झुकाए, उल्टे पैरों से पीछे हटकर द्वार से बाहर निकल आया। एक अन्य सेवक को उसने महाराज का आदेश पालन करने हेतु भेजा और स्वयं फिर से पूर्ववत् द्वार पर स्थिर खड़ा हो गया। आशंका से उसका हृदय भी धड़क रहा था।

सेवक पता करके लौट आया और महाराज की सेवा में सविनय उपस्थित होकर सिर झुकाए हुए ही बोला—

"प्रभु ! कुमार अपने आवास में नहीं हैं।"

"आवास में नहीं हैं ? तो फिर इतनी सुबह कहाँ चले गए ?"

"प्रभु ! कुमार के सेवकों ने सूचित किया है कि वे अपने मित्र प्रहसित के साथ कहीं प्रातःभ्रमण हेतु गए हैं।"

"हैं····प्रातःभ्रमण हेतु गए हैं ?"—राजा को आश्चर्य और दुःख तो था ही किन्तु वे इसे अपने सेवकों के सम्मुख प्रगट नहीं करना चाहते थे। शान्त स्वर में ही उन्होंने कहा—"ठीक है। जब वे लौट आएँ तब कहना कि मुझसे भेंट कर लें।"

सेवक लौट आया।

मध्यान्ह हो आया था, अब तक कुमार लौटकर आए नहीं थे। महाराज और महारानी विकल थे। अपने आवास में वे कभी इधर-उधर चक्कर काटते और कभी थककर आसन पर बैठ जाते। किन्तु चैन नहीं पड़ रहा था। वे फिर इधर से उधर टहलने लगते। उन दोनों को कलेवा भी प्रिय नहीं लगा था। ऐसे ही मुँह जूठा करके उठ गए थे दोनों।

आखिर पवनंजय और प्रहसित लौटे और महाराज की आज्ञा सुनते ही आज्ञाकारी पुत्र की भाँति पवनंजय बिना विश्राम किये ही उनकी सेवा में उपस्थित हुए। माता-पिता को प्रणाम कर उन्होंने धीमे, उदास स्वर में कहा—

"पूज्य पिताजी ! आपने मुझे बुलाया था ?"

राजा कुछ बोले नहीं। चुपचाप आगे बढ़कर उन्होंने पवनंजय के कंधे पर हाथ रखा और उसे लेकर आसन पर आ विराजे। तब कुछ क्षण के मौन के पश्चात् महारानी ही पहले बोली—

"पवन ! मेरे बेटे ! सुबह-सुबह कहाँ निकल गए थे तुम ?"

"प्रहसित के साथ घूमने चला गया था माताजी !"

सुहागरात की सुबह-सुबह इस तरह उदासी में लिपटा युवक पुत्र घर से बाहर चला जाय, अपनी सुन्दरी सुशीला वधू की शक्ल भी न देखे, यह सब क्या उलझन है, कुछ समझ में नहीं आ रहा था ममतामयी माता की, वात्सल्य भरे पिता की। पूछें भी तो क्या पूछें ? कैसे पूछें ? आखिर महाराज ने कहा—

"पवन ! हम तुम्हारे माता-पिता हैं। तुम्हारे सुख तथा कल्याण के अतिरिक्त क्या हम कुछ भी और चाह सकते हैं ? उत्तर दो।"

"नहीं पिताश्री ! ऐसा तो मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता·····।"

"तब यह सब क्या हो रहा है ? सुना है, तुमने बेटी अंजना से कोई बात तक नहीं की ? यह सच है न ?"

"यह तो सच है पिताजी·····।"

"कारण ?"

"पिताजी ! आपने महाराज महेन्द्र को वचन दिया था। उस वचन का पालन हो गया। विवाह हो गया, क्षात्रधर्म की रक्षा हो गई। क्षत्रिय अपने वचन से डिगते नहीं। अब इससे अधिक कुछ आशा आप मुझसे न करें। मैं विवश हूँ।"

महारानी की आँखों से आँसू झरने लगे। किन्तु वे मौन ही बनी रहीं। महाराज प्रह्लाद ही बोले—

"तुम विवश हो ? तुम्हारी विवशता क्या है यह जानने का अधिकार हमारा नहीं है क्या ? संभव है, हम तुम्हारी विवशता का समाधान खोज सकें।"

"पिताजी ! आप समर्थ हैं। विद्याधर राजा प्रह्लाद की सामर्थ्य को कौन नहीं जानता ? किन्तु कुछ विषय ऐसे होते हैं जहाँ मनुष्य की सारी सामर्थ्य निरर्थक भी हो जाती है।"

"किन्तु मेरे बेटे, आखिर ऐसी बात क्या है ? कुछ पता भी तो चले। क्या बेटी अंजना से कुछ अपराध हुआ है ?"

"नहीं पिताजी ! असत्य नहीं कहूँगा। अपराध तो उससे कुछ नहीं हुआ। किन्तु शायद उसकी भी कोई विवशता हो। बस, पिताजी ! माँ ! मुझे क्षमा कीजिए। आपकी आज्ञा हो तो अपना सिर उतार कर आपके श्री चरणों में रख दूँ·····।"

"कैसी बातें बोलते हो कुमार, ऐसी शुभ बेला में। तुम अशान्त हो। जाओ, विश्राम करो। हम विचार करेंगे।"

कुमार पवनंजय ने माता-पिता को प्रणाम किया और वे अपने आवास की ओर चले गए।

राजा प्रह्लाद और रानी केतुमति हत्बुद्धि से बैठे रह गए कुछ समय तक। किन्तु राजा धीर पुरुष थे। वे उठे, उन्होंने रानी को आश्वासन देते हुए कहा—

"प्रिये! चिन्ता न करो। मुझे विचार करने दो। मैं प्रहसित से बात करूँगा। तुम भी बेटी अंजना से बात करना। संसार में कोई ऐसी समस्या नहीं जिसका कोई समाधान न हो। साहस रखो। शान्त रहो। अब जाओ, खा-पीकर कुछ विश्राम करो।"

महारानी केतुमति अपने पति की आज्ञानुसार भारी हृदय लिए अपने आवास में चली गईं।

महाराज ने फिर प्रहसित को बुलाया और कहा—

"प्रहसित! जैसा हमारा पवन, वैसे ही तुम। ठीक-ठीक बताओ कि पवनंजय को क्या हुआ है? क्या कारण है कि वह उस देवी की ऐसी उपेक्षा करने का पापकर्म करने को उद्यत हो सका।"

प्रहसित ने महाराज के चरण स्पर्श करके उत्तर दिया—

"महाराज! आप मेरे पितृतुल्य हैं। आपके सामने असत्य वचन कहूँ तो जीभ गलकर गिर जाय। वास्तविकता यह है कि भाभी अंजना का कोई अपराध नहीं है, कोई दोष नहीं है।"

"तब फिर क्या कारण है पवनंजय के इस व्यवहार का?"

"भाग्य का खेल है महाराज! अपराध या दोष दोनों में से किसी का भी नहीं है। भ्रम है पवनंजय का और भाग्य है भाभी का।"

प्रहसित के इस उत्तर से महाराज प्रह्लाद कुछ समझ नहीं सके। गुत्थी उनके मस्तिष्क में वैसी ही उलझी रही। उन्होंने पूछा—

"कुछ समझाकर, विस्तार से बताओ, प्रहसित! मैं कुछ समझ नहीं सका।"

"महाराज! जो कुछ घटित हुआ है वह, मैं आपको बताता हूँ। मानसरोवर के तीर पर हम सब वीतराग भगवन्तों के दर्शन हेतु एकत्रित हुए थे, तब पवनंजय तथा भाभी के विवाह सम्बन्ध की चर्चा चली थी। सम्बन्ध निश्चित हो गया। अंजना भाभी के रूप-गुण-शील की प्रशंसा किसने नहीं सुनी थी? पवनंजय ने भी जब यह सम्बन्ध निश्चित हो गया तब अपनी ऐसी असाधारण भावी वधू को देखने की इच्छा मेरे समक्ष

प्रगट की। मैंने पहले तो उसे कहा कि अब विवाह के बाद, तीन दिन बाद ही जी भर कर देख लेना, किन्तु वह माना नहीं। बड़ी उत्कंठा थी उसे। मैंने भी कोई हानि न देखी और तब हम एक दिन अदृश्य होकर महाराज महेन्द्र के आवास पर गए··· ···· ।"

रहस्य के कुछ सूत्र खुलते दीखे। महाराज प्रह्लाद ने उत्सुक होकर पूछा--

"फिर ? फिर क्या हुआ प्रहसित !"

"उस समय भाभी अंजना उद्यान में अपनी सहेलियों के साथ क्रीड़ारत थीं। परस्पर छेड़छाड़ चल रही थी। उस छेड़छाड़ का मुख्य बिन्दु भाभी अंजना ही थीं। सब सहेलियाँ मिलकर उन्हें ही विवाह तथा पवनंजय के नाम को लेकर हँसी-मजाक कर रही थीं। उसी हँसी-मजाक के मध्य किसी सहेली ने पवनंजय का नाम लेकर भाभी को पुनः छेड़ा। दुर्भाग्यवश उस समय तक भाभी उस सारी छेड़छाड़ से हैरान हो चुकी थीं अथवा अपने सुख की कल्पना से उनका हृदय लबालब भर चुका था। अतः वे अधिक सहन न करके दिखावटी अप्रसन्नता बताती हुई उठकर एक ओर को चल दीं।"

इतना कहकर प्रहसित क्षण भर के लिए रुका ही था कि महाराज ने अत्यन्त उत्सुक होकर उससे कहा--

"ठीक ही तो है, बेचारी हैरान हो गई होगी। उठकर चली गई तो क्या हो गया ?"

प्रहसित ने आगे बताया--"महाराज ! बस, यही बात तो आज तक मैं पवनंजय को समझा नहीं पा रहा कि इतनी सी बात से आखिर हो क्या गया ? प्रभु ! वह समझता है कि अंजना भाभी उसकी ओर आकर्षित नहीं हैं। उससे अनुराग नहीं रखतीं। और उसका अर्थ वह वज्रमूर्ख····· क्षमा करें, प्रभु ! भूल हुई, किन्तु मैं पवनंजय को इतना प्रेम करता हूँ कि····· ।"

"कोई बात नहीं प्रहसित ! वह वज्रमूर्ख ही है। न होता तो क्या ऐसा सोच सकता था ? किन्तु तुम कुछ और भी कह रहे थे, इसका अर्थ वह क्या लगाता है ?"--महाराज ने विषाद भरे स्वर में पूछा।

"महाराज ! कैसे कहूँ ? देवीस्वरूपा भाभी अंजना के विषय में ऐसा विचार तक लाना पाप है, फिर मुख से कहूँ तो कैसे····· ।"

"कहो प्रहसित ! सब कुछ ठीक-ठीक बता दो। ताकि पवनंजय को सन्मार्ग पर लाने का उपाय किया जा सके। संकोच न करो, कह डालो।"

महाराज की आज्ञा से तब प्रहसित ने बताया कि पवनंजय यह सोचता है कि अंजना भाभी पहले से ही किसी अन्य पुरुष के प्रति अनुरक्त हैं। इसीलिए वे मेरा नाम अपनी सहेलियों से सुनकर मुँह फेरकर उठकर चली गई थीं।

यह सुनकर महाराज प्रह्लाद को बड़ा दुःख हुआ। वे विचार करने लगे कि इतना धीर-गंभीर और विवेकशील होकर भी पवनंजय सामान्य मनोविज्ञान की इतनी सी भी बात क्यों नहीं समझ सका और उसका एकदम ही उल्टा अर्थ लगाकर कैसा अनर्थ करने पर तुल गया है ?

कुछ देर वे विचारमग्न रहे फिर उन्होंने प्रहसित से कहा—

"ठीक है प्रहसित ! मुझे विश्वास है तुम उसके प्रगाढ़ मित्र होने के नाते उसे ठीक स्थिति कभी न कभी समझा सकोगे। अपना प्रयत्न जारी रखना। हम भी प्रयत्न करेंगे। सुबह का भूला कभी न कभी घर लौटता ही है।"

"ठीक यही बात मैंने विचारी थी महाराज ! और पवनंजय को समझाने का हर प्रयत्न भी मैं कर रहा हूँ। आप तथा महारानी जी विशेष दुःखी न हों, सब ठीक हो जायगा। चिन्ता केवल भाभी की है। इस भीषण उपेक्षा से दुःखी हो कहीं वे कोई अनर्थ न कर बैठें, यही आशंका मुझे सताती है।"

'उसकी चिन्ता तुम न करो। मैं अंजना को समझाऊँगा, सम्हालूँगा, उचित प्रबन्ध करूँगा। तुम भी उसे धैर्य रखने के लिए प्रेरित करते रहना। अच्छा, अब तुम जा सकते हो।"

महाराज को प्रणाम कर प्रहसित वहाँ से चला गया। □

चार

समय व्यतीत होता चला गया। दिन गए"""। सप्ताह-मास-वर्ष भी बीत गए किन्तु पवनंजय के मन का शल्य किसी भी प्रकार दूर नहीं हुआ। राजा प्रह्लाद और रानी केतुमति भी हारकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ गए। अंजना के भाग्य पर ही सब कुछ छोड़कर वे निराश स्थिति में अपना समय व्यतीत करने लगे।

अंजना की स्थिति की कल्पना कौन नहीं कर सकता ? पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि उस निर्दोष और फूलों-सी कोमल नारी पर क्या-क्या बीती होगी ? कैसे उसने यह समय व्यतीत किया होगा ?

सूखकर वह काँटा हो गई थी। हृदय उसका बुझ सा गया था। किन्तु धर्म में अडिग आस्था रखने वाली उस नारी ने फिर भी आशा का सूत्र पूर्णरूपेण छोड़ा नहीं था। यही सोचा करती थी वह कि कभी न कभी मेरे पापकर्म क्षीण होंगे, पुण्योदय होगा और तब पतिदेव का भ्रम भी दूर हो ही जाएगा। ऐसा होने पर सुख के दिन फिर लौट आएँगे।

आशा के और विश्वास के इन्हीं क्षीण सूत्रों को थामे वह दिन-रात प्रभुस्मरण और धर्म-ध्यान में दत्तचित्त रहती थी। वसन्ततिलका तथा अन्य सखियाँ उसे ढाढस बंधाती रहती थीं। अब जब-जब भी वे सखियां उसे साहस रखने को कहती थीं तब वह मौन ही रहती थी, केवल एक बहुत क्षीण, म्लान मुस्कान उसके सूखे अधरों पर उस क्षण भर के लिए थरथराती-सी दीखती थी, मानो कहना चाहती हो—तुम्हारी सहानुभूति को मैं अच्छी तरह समझती हूँ।

इसी प्रकार जीवन चल रहा था। घिसट रहा था अंजना का जीवन।

एक दिन लंकापुरी से एक राजदूत आदित्यपुर की राजसभा में उपस्थित हुआ। उसने महाराज प्रह्लाद से हाथ जोड़कर विनय-संदेश कहा—

"नरेन्द्रनाथ ! मैं लंकापुरी से अपने स्वामी का संदेश लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आज्ञा हो तो निवेदन करूँ ?"

"हाँ, हाँ, कहो दूत ! क्या संदेश लाए हो ? बहुत थके दिखाई देते हो, शीघ्रता में आए लगते हो । सब कुशल तो है न ? लंकापति प्रसन्न हैं न ?"

"प्रभु ! लंकापति स्वस्थ हैं, किन्तु प्रसन्न शायद नहीं, चिन्तित अवश्य हैं ।"

"लंकापति चिन्तित हैं ? कारण ?"

'प्रभु ! उस दुर्मति वरुण ने हमारे स्वामी से शत्रुता ठान ली है । उसकी बुद्धि ठिकाने लगाने के लिए जब खर-दूषण सेना लेकर गए तब भीषण युद्ध हुआ । किन्तु परिणाम यह हुआ कि खर-दूषण ही बन्दी बना लिए गए···· ····।"

" अरे ! खर-दूषण बन्दी हो गए, और सूचना भी न मिली ?"

"वही सूचना देने मुझे आपकी सेवा में भेजा गया है प्रभु ! और मैं दिन-रात अश्व की सवारी करता हुआ, विना विश्राम किए सेवा में उपस्थित हुआ हूँ ।"

"ठीक ! यह स्थिति तो गंभीर है । अब लंकापति का विचार क्या है ?"

"दुर्मति वरुण को उचित शिक्षा देने स्वयं लंकापति प्रस्थान के लिए उद्यत हो रहे हैं । इस प्रयाण में आप सहयोग दें, ऐसी भावना हमारे स्वामी ने प्रगट की है ।"

"अवश्य ! इसमें विचार के लिए अवकाश ही कहाँ है ? लंकापति हमारे मित्र हैं । मित्र की किसी भी कठिनाई में सहयोग करना मित्र का परम कर्तव्य होता है । मंत्रिवर ! आपकी क्या भावना है ?"

राजा ने अपने मंत्री से जब यह प्रश्न पूछा तो उसने शीश झुका कर उत्तर दिया—

"महाराज ! आपका निर्णय नीति के अनुकूल ही है । कर्तव्य की भावना के अनुरूप ही है ।"

"तब ठीक है । सेनापति ! सैन्य तैयार हो ।"

"जो आज्ञा, महाराज ! आदित्यपुर का सैन्य सदैव प्रस्तुत ही रहता है । केवल आपके संकेत की प्रतीक्षा में ।"—महाबलवान सेनापति ने निवेदन किया ।

महाराज प्रसन्न हुए । बोले—

"अच्छा दूत ! तुम अब विश्राम करो । निश्चिन्त होकर स्नान-ध्यान-

जप आदि से निवृत्त होकर भोजन करो, शयन करो। हम कल प्रातःकाल ही ससैन्य रवाना होंगे।"

सन्तुष्ट होकर दूत राजसभा से विदा हुआ। तब सभा में उपस्थित राजकुमार पवनंजय ने हाथ जोड़कर महाराज से कहा—

"महाराज ! मेरा एक निवेदन है।"

"कहो कुमार, क्या कहना चाहते हो ?"

"महाराज ! मेरे होते हुए आपको युद्ध में जाने की क्या आवश्यकता है ? मुझे आज्ञा दीजिए।"

"कुमार की प्रार्थना उचित ही है महाराज ! कुमार इस कार्य के लिए सर्वथा समर्थ है।"—मंत्री ने अपनी सम्मति प्रगट की।

एक बार तो महाराज प्रह्लाद की इच्छा हुई कि वे इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दें और स्वयं ही युद्धभूमि में जायें। किन्तु फिर उन्होंने सोचा कि इस निमित्त से पवनंजय का ध्यान दूसरी ओर लगेगा। स्थान, वातावरण, परिस्थिति का परिवर्तन भी होगा। कौन जाने इसी बहाने इसके विचारों में कुछ परिवर्तन आ जाय ? यह विचार कर, इस आशा के साथ उन्होंने कहा—

"ठीक है कुमार, तुम जाना चाहते हो तो जा सकते हो। एक ही बात होगी। किन्तु क्या तुम समझते हो कि मैं बूढ़ा और अशक्त हो गया हूँ ?"

"नहीं महाराज !"—पवनंजय ने उत्तर दिया—"आपकी सामर्थ्य तथा आपके खड्ग का पानी कितना गहरा है यह आपके वैरी अच्छी तरह जानते हैं। किन्तु युवा पुत्र के रहते अवस्था को प्राप्त होते जा रहे पिता को क्या आवश्यकता है कि वह अनावश्यक कष्ट करे ? इसी दृष्टि से मैंने विनय की है महाराज ! कृपया मुझे आज्ञा दें।"

"आज्ञा तो तुम्हें मिल ही चुकी है। मैं तो तुम्हारे विचार जानना चाहता था। जानकर प्रसन्नता हुई। काश, अन्य विषयों में भी तुम इतना ही विवेक·····खैर, जाने दो। सभा विसर्जित की जाती है।"

महाराज सिंहासन से उठ खड़े हुए। उनके अन्तिम, अधूरे वाक्य को सभी ने सुना, पवनंजय ने भी। एक शूल-सा उसके हृदय में गड़ा, गड़ा ही गया।

× × × ×

दूसरे दिन शुभ प्रभात की पुण्य-बेला में युद्ध के लिए प्रस्थान का

मुहूर्त्त था। आदित्यपुर का सैन्य राजप्रासाद के सामने वाले विशाल मैदान में पंक्तिबद्ध खड़ा था। सूर्य की सुनहली किरणों में उनके शस्त्र असंख्य बिजलियों की भांति चमक-दमक रहे थे। अश्व अधीर होकर पृथ्वी पर अपने पैर बार-बार पटक रहे थे। वीर सैनिकों के वक्षस्थल उत्साह के कारण फैले-फटे जा रहे थे। आदित्यपुर के महासेनापति अपने विशाल सैन्य के आगे अपने द्रुतगामी अश्व पर सवार राजकुमार की प्रतीक्षा कर रहे थे।

प्रयाण की तैयारी थी। कुमार पवनंजय की प्रतीक्षा थी।

वीर वेश में सुसज्जित राजकुमार पवनंजय आखिर राज-द्वार में दिखाई दिये। उनके चेहरे की दीप्ति उस क्षण दर्शनीय थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों एक सूर्य आकाश में चमक रहा था तो एक दूसरा सूर्य आदित्यपुर के राजप्रासाद के सिंहद्वार पर भी दमक उठा था।

राजकुमारी अंजना अपने हृदय की समस्त व्यथा, पीड़ा, निराशा को हृदय में ही छिपाए द्वार पर मंगल आरती का थाल सजाए खड़ी थी। चाहे पतिदेव ने अब तक उसकी घोर उपेक्षा की हो, भले ही उन्होंने निरपराध उसे घोर विरह की पीड़ा सहन करने के लिए विवश किया हो, किन्तु वह पतिपरायणा नारी युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहे अपने पति की मंगलकामना हेतु आरती का थाल सजाए खड़ी थी।

किन्तु कुमार पवनंजय ने उस बेचारी निर्दोष अबला पर एक और वज्र प्रहार किया, तथा वह भी समस्त परिजनों तथा विशाल जनमेदिनी के समक्ष। उसने आंख उठाकर अंजना की ओर देखा तक नहीं। अपने कदमों की गति और तेज करते हुए वह द्वार के पार होकर सीढ़ियाँ उतरता चला गया.....

अंजना, दुर्बल-दुःखी अंजना, यह आघात सहन न कर सकी। काँप उठी वह। वसन्ततिलका ने समय रहते उसके हाथों से आरती का थाल यदि अपने हाथों में थाम न लिया होता तो वह भूमि पर झनझनाता हुआ गिर ही पड़ता।

आरती का वह थाल तो नहीं, किन्तु अंजना कटे हुए वृक्ष की भाँति मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी।

सेनापति ने अपनी तलवार ऊँची उठाकर कुमार पवनंजय का जय-घोष किया।

विशाल सैन्य समूह ने उस जयघोष को दुहराया और चारों दिशाएँ उस तुमुल घोष में डूब गईं।

दुःखी अंजना के टूटे हृदय से निकलती हुई दर्दभरी चीत्कार उस तुमुल जयघोष में कहाँ खो गई—कौन जाने !

अपने सुसज्जित किन्तु सूने आवास में अंजना बड़ी कठिनाई से होश में आई।

सूनी दृष्टि, सुनसान हृदय, शून्य-सा मस्तिष्क !

और एक ऐसा भयावना मौन कि वसन्ततिलका भी एक बार तो घबरा ही गई। भरे गले, रुँआसे स्वर में बोली—

"अंजना ! मेरी प्यारी अंजन ! क्या एक शब्द भी तू मुझसे बोलेगी नहीं ? बोल, प्यारी सखी, कुछ तो बोल। चाहे रो-रोकर सारे राजप्रासाद को भर दे, किन्तु तेरा यह मौन असह्य है। यह मौन मुझे मार डालेगा अंजना ! और इस सारे राजप्रासाद को भस्म कर डालेगा····· ····।"

शीतल गुलाबजल में भिगोया हुआ झीना वस्त्र वसन्ततिलका ने अंजना के माथे पर फिर से रखा और फिर प्यार से उसके दोनों सूखे गालों को अपने कोमल हाथों में लेते हुए कहा—"अंजन ! मेरी प्यारी अंजन ! क्या भूल गई कि एक दिन मैंने मानसरोवर के तीर पर तुझे क्या कहा था ? मैंने कहा था अंजन, कि प्रबल से प्रबल प्रभंजन भी किसी नन्ही, कोमल दीपशिखा को बुझा तो सकता है, किन्तु अपनी आत्म-ज्योति से प्रकाशित उस दीपशिखा के अन्तर् की आलोकित ऊष्मा और पवित्र प्रकाश को मिटा नहीं सकता·····।

"अंजन ! तू वीरबाला है। साहस रख, धीरज रख, मेरी प्यारी अंजन ! परमात्मा के राज्य में देर हो सकती है, अन्धेर नहीं·····।"

उस वीरबाला का विवेक जाग्रत हुआ ! मन्द स्वर में उसने कहा—

"वसन्ततिलका ! मेरी प्रिय सखी ! अन्धेर कह या अन्धकार····· जो होना था वह हो चुका। अब भी क्या कुछ शेष रह गया है, होने को·····।"

"हाँ, अंजन ! शेष है। सुबह के भूले को शाम पड़े ही सही, किन्तु घर लौटना अभी शेष है। और वह होकर ही रहेगा। तेरी शपथ अंजन ! आने दे इस बार कुमार को। तेरी यह सखी अब या तो उनका यह मतिभ्रम दूर करके ही रहेगी या फिर अपने प्राण ही त्याग देगी·····।"

"अरे, पगली, ऐसे वचन न कह। दोष उनका नहीं, मेरे भाग्य का ही है, मेरे कर्मों का है ! उन्हें दोष-देने से क्या लाभ ?"

"न सही उनका कोई दोष, एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय तो, किन्तु क्या उनका कोई कर्त्तव्य भी नहीं है ?"

"उनके कर्त्तव्य को उनसे अच्छी तरह कौन जान सकता है वसन्त ! अब जाने दे इस बात को। किन्तु उन्हें दोष न दे। मैं भी अब धैर्य रखूंगी। सब कुछ सहन करूंगी। अब और होना भी क्या है ? एकान्त उपेक्षा इतने समय तक सही, आज सार्वजनिक अपमान भी सह लिया। भाग्य की झोली में और भी जो दुःख हों वह डाल दे मेरे आँचल में.....।"

बेचारी अंजना कितनी भी सहनशीला हो, किन्तु दुःख की कोई सीमा भी तो होती है ?

धीरज धरते-धरते फिर सुबकने लगी बेचारी।

× × × ×

मंजिल-दर-मंजिल कूँच करते हुए आदित्यपुर का सैन्य पवनंजय के सेनापतित्व में मानसरोवर के किनारे पर आ लगा। वहाँ उन्होंने पड़ाव डाल दिया। साँझ घिर आई थी। सैनिक विश्राम तथा शाम के भोजन की तैयारी में लग गए। तम्बू गाड़ दिये गये। अलाव जल गए। स्नान-ध्यान तथा भोजनोपरान्त सैन्य शिविर शान्त हो गया। थके हुए सैनिक प्रगाढ़ निद्रा में लीन हो गए। केवल प्रहरी चारों दिशाओं में सजग दृष्टि से जागते और घूमते रहे।

आज पवनंजय को नींद नहीं आ रही थी। वह अंजना की उपेक्षा करके चला तो आया था किन्तु उसके मस्तिष्क में आज जाने क्यों कुछ उद्विग्नता समाई हुई थी। मनोमंथन चल रहा था।

सोच रहा था वह—क्या जो कुछ मैं कर रहा हूँ वह सचमुच ठीक ही है ? यदि ठीक है तो फिर मेरे अतिरिक्त अन्य सभी लोग इसे मेरी भूल क्यों मानते हैं ? क्या ऐसा हो सकता है कि अन्य सभी गलत हों तथा मैं अकेला ही ठीक हूँ ? हो तो सकता है ऐसा, किन्तु क्या है भी ? मैंने कभी गहराई से अथवा धैर्यपूर्वक विचार किया भी तो नहीं। सदैव एक ही बात की गाँठ बाँधे बैठा रहा हूँ। माता-पिता, जो इतने विवेकवान हैं, मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं—उन्होंने भी मुझे कितनी बार समझाया है कि अंजना निर्दोष है। इसी प्रकार मेरा आत्मीय मित्र प्रहसित तो आरम्भ से ही इस सम्बन्ध में मुझे शिक्षा देता आया है, मुझसे रुष्ट भी रहता है इस कारण, किन्तु उसने अपना धीरज नहीं छोड़ा है, उसे विश्वास बना ही हुआ है कि भूल मेरी ही है और वह कभी न कभी दूर होगी। तो क्या वह ठीक नहीं कहता ?

सोचते-सोचते पवनंजय अपने पर्यंक से उठकर अपने शिविर में इधर-उधर टहलने लगा। उसे अब चैन पड़ ही नहीं रहा था।

विचारों का क्रम आगे बढ़ा--अंजना ? इतने वर्ष बीत गए उसे कभी किसी आमोद-प्रमोद में रत मैंने नहीं पाया। जब देखा या सुना तब उसे जिनदेव की अर्चना-उपासना में ही लगे देखा-सुना। अपनी दासियों के द्वारा भी मैंने उसके मन की थाह लेने की कोशिश की, तब भी यही पाया कि मेरे अतिरिक्त कभी किसी अन्य पुरुष का नाम तक उसके मुख से नहीं निकला। तब क्या सचमुच मैं ही भूल रहा हूँ—हे जिनदेव !

शिविर में सुगन्धित तैल का दीपक जल रहा था, प्रकाश मन्द ही था। टहलते-टहलते पवनंजय ने देखा कि एक शलभ उड़ते-उड़ते कहीं से आया, उसने दीपक की जलती लौ के एक-दो चक्कर काटे और फिर प्रेम में पागल वह शलभ सीधा उस जलती लौ में ही धँस पड़ा। पंख उसके झुलस गए। वह जलकर दीपक के पास ही गिरकर तड़पने लगा।

पवनंजय ने यह क्रिया देखी, उससे और अधिक देखा न गया। जाने क्या-क्या विचार उसके मन में तूफान-सा मचाने लगे। पलटकर वह प्रहसित के पास गया। उससे जगाकर बोला—

"प्रहसित ! उठो तो जरा।"

"कौन ? कुमार ? अरे, तुम जाग भी गए..... ।"

"नहीं।"

"नहीं ? तुम जागे नहीं हो तो क्या मैं तुम्हारे भूत को देख रहा हूँ।"

"नहीं, प्रहसित ! मैं जागा नहीं, वस्तुतः मैं सो ही नहीं पाया आज।"

"अरे, सोए नहीं ? भला क्यों ? इतनी थकान के बाद भी ?"

"प्रहसित ! ऐसा लगता है कि बहुत सो लिया मैं। बड़ी गहरी मूर्च्छना थी वह। अब जागने की बेला आई है।"

प्रहसित गहरी नींद से उठा था। ठीक से पवनंजय की इन रहस्य-भरी बातों को समझ नहीं पाया। आश्चर्य से वह उसके मुख की ओर देखता रह गया। आशा की एक किरण भी उसकी उनींदी आँखों में चमक आई।

पवनंजय ने ही आगे कहा—"उठ, मेरे मित्र ! तूने भूत की बात कही थी न अभी ? मैं उस भूत को अब भगा देना चाहता हूँ।"

"मैं कुछ नहीं समझ पा रहा तेरी बात..... ।" मित्रों में इतनी ही सहजता से बातें होती थीं। कुमार पवनंजय युवराज थे, किन्तु मैत्री के आड़े उनकी पद गरिमा कहीं नहीं आती थी। प्रेम से वे एक-दूसरे को 'तू' या 'तुम' सम्बोधन भी करते ही रहते थे।

"ठीक से समझ तो अभी मैं भी नहीं पाया हूँ प्रहसित, कि आज मुझे क्या हो रहा है, किन्तु कुछ हो अवश्य रहा है। अब तू पहले उठ, कन्धे पर कोई वस्त्र डाल ले, तनिक बाहर चलकर घूम जाएँ।"

प्रहसित तुरन्त तैयार हो गया। दोनों अपने अस्थाई आवास से निकल पड़े। द्वार पर मूर्तिवत् खड़े द्वारपालों ने अपने लम्बे भाले और तने हुए शीष झुकाकर दोनों का अभिवादन किया। शायद उन्हें आश्चर्य हुआ होगा कि दिवस भर की कठिन, लम्बी यात्रा के बाद भी शान्ति की निद्रा लेने की बजाय कुमार अपने मित्र के साथ कहाँ निकल पड़े हैं?

किन्तु राजाओं की बात राजा लोग जानें। पहरा यथावत् चलता रहा। मूर्तियां पूर्ववत् स्थिर हो गईं।

दूर-दूर तक शिविर फैला था। अन्धकार के साम्राज्य में सैनिक सुख की नींद सो रहे थे। केवल प्रहरियों के हाथों की मशालों का प्रकाश स्थान-स्थान पर दिखाई देता था। सभी ओर शान्ति थी—निस्तब्ध रजनी। झींगुरों की झनकार उस नीरव रात्रि में मधुर संगीत का सृजन तो कर रही थी, किन्तु उससे रात का सन्नाटा और गहराता-सा ही लगता था।

दोनों मित्र मौन चले जा रहे थे। चलते-चलते वे शिविर को पार करके मानसरोवर के एक एकान्त किनारे पर आ बैठे।

प्रहसित ने देखा, अनुभव किया कि पवनंजय किसी गहरे विचार में डूबा हुआ है। अतः उसने भी मौन भंग करना उचित नहीं समझा। किसी आशा के नन्हें बिरवे को अपने हृदय में सींचता हुआ वह चुप बना रहा।

सहसा एक तीव्र क्रन्दन उस अन्धेरे और आकाश को चीरता हुआ दोनों मित्रों के कर्णकुहरों से आ टकराया—अपने प्राणप्रिय चकोर से बिछुड़ी कोई दुखियारी चकवी चीख उठी थी.....

पवनंजय उस करुण पुकार को सुनकर सिहर उठा। जलते हुए, तड़पते हुए उस शलभ को देखकर जो गहरी पीड़ा की अनुभूति उसे अपने आवास में हुई थी, वह अनुभूति अब इस चकोरी के क्रन्दन को सुनकर मानों उसके हृदय को किसी तीक्ष्ण तलवार की तरह चीर ही गई.....

जीवन में कुछ क्षण अचानक ही ऐसे आ जाते हैं जबकि मनुष्य के सारे जीवन की धारा ही उलट जाती है।

वही हुआ।

पवनंजय ने सहसा प्रहसित का हाथ थाम लिया, कुछ क्षण वैसे ही थामे रहा, मौन रहा, और फिर बहुत धीमे स्वरों में, जैसे स्वयं से ही बोल रहा हो, उसने कहा—

"प्रहसित ! सुना तुमने इस चकोरी का आक्रन्दन ?"

"हाँ पवन ! सुना तो । किन्तु इससे तुम्हें क्या ? तुम तो सुखी हो, अपने में ही मग्न हो ....."

"प्रहसित ! मेरे मित्र ! अब यह व्यंग वचन रहने दे । तूने पूछा था न, कि क्या मैं जाग गया ? अब उस प्रश्न का उत्तर देता हूँ—हाँ, प्रहसित, ऐसा लगता है कि अब सचमुच मैं जाग गया हूँ । मुझे लगता है कि सत्य के प्रकाश ने मेरी आँखों के अन्धेरे को धो डाला है ।"

"कुछ और स्पष्ट कहोगे पवनंजय ?"

"कहूँगा ! आज सब स्पष्ट ही कहूँगा । आँखों के आगे घिरा हुआ भ्रम का परदा आज हट जो गया है । प्रहसित ! ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैंने बहुत बड़ा पाप किया है ।"

"अर्थात् ?"

"प्रहसित ! तेरी भाभी के साथ मैंने घोर अन्याय किया है । उस निर्दोष सती नारी को मैंने अपने भ्रम में, अपने अहंकार में, नारकीय पीड़ा दी है । जाने अब मेरे पापकर्म का प्रक्षालन कैसे होगा ? कभी होगा भी कि नहीं ?"

यह सुनते ही प्रहसित ने पवनंजय को गले से लगा लिया । उसकी आँखों में हर्ष के आँसू छलक आए । उसने धुँधली आँखों से ऊपर आकाश की ओर देखा, प्रभु को लाख-लाख धन्यवाद दिये । उसे लगा कि सितारे झुक रहे हैं । उनसे आशीर्वाद की अमृत वर्षा हो रही है । वह किसी तरह इतना ही कह सका—

"पवनंजय ! परमात्मा तुझे और भाभी को मेरी आयु भी दें, मेरे समस्त पुण्य तुम दोनों को दें । मेरे सुबह के भूले मित्र, अब तुम घर लौट ही आए । मेरे जीवन का यह सर्वाधिक सुखद क्षण है ।"

पवनंजय सोच रहा था, केवल एक रात्रि का विरह इस भोली चकोरी को इतनी मर्मान्तिक पीड़ा दे रहा है, तब उस बेचारी अंजना की क्या स्थिति होगी ? अकारण ही उस निर्दोष बाला को मैंने कितनी लम्बी अवधि तक कैसी कठोर यातना दी है ? और कोई होता, अन्य कोई नारी होती, इतनी धैर्यवान, सहनशीला, पतिपरायणा, विवेकवती अंजना न होती कोई अन्य होती तो क्या होता ? हाय, कैसा अनर्थ हो जाता.....

वह सहसा उठ खड़ा हुआ । बोला—

"चल प्रहसित ! इसी क्षण चल । एक पल भी नहीं ठहरना है । जाने उस बेचारी पर क्या बीत रही होगी ? विलम्ब न कर ।"

प्रहसित विलम्ब क्यों करने लगा ? उसने तो इतने वर्ष इसी आशा और विश्वास में व्यतीत किये थे कि किसी शुभ घड़ी में पवनजय को सुबुद्धि आएगी। वह तुरन्त उठकर चल पड़ा और चलते-चलते ही पूछा—

"पवनंजय ! मैं तुझसे मन ही मन बहुत रुष्ट था। अब सब ठीक हो गया। चल, किन्तु अब करना क्या है ?"

"आदित्यपुर चलना है—नहीं, आदित्यपुर, या सारे संसार से मुझे क्या लेना-देना—अंजना के पास चलना है।"

"ठीक है। शीघ्रता कर, कहीं वह बेचारी निराश होकर कुछ अनर्थ, कर ही न बैठे। सीमा होती है मित्र, प्रत्येक बात की कोई सीमा होती ही है। जा तू पवन-वेग से उड़कर भाभी के पास जा।"

"तू भी चलेगा मेरे साथ····! मैं अकेला कैसे जाऊंगा भला ? कैसे अपना मुख उसे दिखा सकूंगा ? नहीं नहीं, मैं अकेला उस सती के सामने जा ही नहीं सकता। तुझे भी चलना होगा। तू ही मेरा रक्षक है, मित्र !"

सोच-समझकर प्रहसित मान गया।

विद्याधरों को मानसरोवर के तीर से आकाशमार्ग द्वारा उड़कर आदित्यपुर में अंजना के आवास में अदृश्य रूप में पहुँच जाने में कुछ क्षण ही लगे। द्वार पर सजग खड़ी प्रहरी दासियों में से कोई उन्हें देख न सका, कोई कुछ जान न सका।

अंजना के आवास में प्रविष्ट होकर वे प्रकट हुए, पवनंजय एक अंधेरे कोने में चुपचाप खड़ा रहा। उसका हृदय धड़क रहा था—क्या होगा ? अंजना मुझे क्षमा कर सकेगी ? यदि उसने क्षमादान न दिया तब फिर मेरे पास अपने इस घोर पाप का प्रक्षालन करने हेतु अपना प्राणान्त कर देने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं बचेगा। किन्तु सती अंजना मुझे क्षमा क्यों नहीं करेगी ? क्या यह मेरे जैसी अल्पबुद्धि है ? नहीं नहीं, यह विदुषी महान् नारी है, धरित्री के समान क्षमावान है, अवश्य मुझे क्षमा करेगी।

इसी ऊहापोह में पड़े पवनंजय को वे कुछ क्षण युग-युगान्तरों जैसे लगे।

अंजना अपने दुग्ध-धवल पर्यंक पर पड़ी थी। लेटी थी, अथवा शयन कर रही थी यह कैसे कहा जाये ? वह दुखियारी तो किसी वृक्ष की कटी, सूखी शाखा के समान बस पड़ी ही थी। किन्तु अपने सतीत्व की शोभा से उसकी निर्बल, दुबली काया भी किसी चन्द्रकिरण जैसी शोभायमान थी। हाँ, रोते-रोते अचेत-सी पड़ी अंजना के गालों, पर आँसुओं के कुछ मोती अब भी स्थिर, अटके रह गए थे।

प्रहसित तथा पवनंजय ने यह सब देखा और खंजर-से चुभ गए उनके हृदय में।

पवनंजय ने प्रहसित को संकेत किया। दूर से ही पुकार कर अंजना को जगाने के लिए वह एक-दो कदम आगे बढ़ा। कुछ आहट पाकर अंजना ने आंखें खोल दीं। मन्द प्रकाश में उसने किसी पुरुष की आकृति को देखा। देखते ही उसकी दुर्बल, जीर्ण-शीर्ण काया में सहसा जैसे बिजली-सी कौंध गई। क्रुद्ध शेरनी जैसी उछलकर वह अपने पर्यंक से उठी, झपटकर उसने दीवार पर लटकी तलवार म्यान से खींच ली और हवा में लहराते हुए गरजी—

"कौन है तू, पामर ? कैसे साहस हुआ तुझे पर-स्त्री के आवास में इस तरह चले आने का ? ठहर, बताती हूँ तुझे कि किसी चरित्रवान नारी की आत्मा कितनी दृढ़ होती है और उसकी दुर्बल भुजाओं में भी वज्र की कैसी शक्ति समाई रहती है।"

इतना कहकर वह उछलकर प्रहसित के ठीक सामने आ गई। उसका तलवार वाला हाथ प्रहसित के शीष पर ऊपर उठा। क्षण मात्र में वह तीक्ष्ण तलवार प्रहसित के शीष पर गिरी ही होती कि वह बोल पड़ा—"भाभी !"

उठा हुआ हाथ हवा में ही थमा रह गया। अंजना विस्मित रह गई प्रहसित का स्वर पहिचानकर। उसने धीरे-धीरे तलवार नीचे की, किन्तु कहा—

"यह तुम हो प्रहसित ? तुम ? आश्चर्य है। तुम्हारा इतना साहस ? इसी को मैत्री कहते हैं ? तुम उनके मित्र हो ? इस तरह रात्रि के एकान्त में मेरे कक्ष में प्रवेश करने से पूर्व तुम्हारी आत्मा ने तुम्हें धिक्कारा नहीं ? चले जाओ यहाँ से। निकल जाओ इसी क्षण इस कक्ष से बाहर अन्यथा अनर्थ होकर ही रहेगा। तुम मेरे देवर अवश्य हो, किन्तु मुझे तुम्हें प्राणदण्ड देने का पाप भी करना ही होगा।"

अंजना क्रोध से काँप रही थी।

प्रहसित मुस्कराता खड़ा था।

अंजना का तलवार थामे हाथ फिर ऊपर उठने लगा। इसके साथ-साथ ही वह बोली—

"तो तुम मरना ही चाहते हो। हे जिनदेव ! मुझे क्षमा करना। किन्तु अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए मैं विवश हूँ। हे प्रभु, क्या मेरे पाप कर्मों का अन्त अब भी नहीं आया ·····?"

"अन्त आ गया है भाभी, जरा देखो तो उस तरफ।"

अंजना ने देखा, पवनंजय उसके समीप आ रहा था·····।

इस अनपेक्षित, अकस्मात् सुख और सौभाग्य को प्राप्त कर अंजना की दशा उस क्षण कैसी हो गई थी यह बता सकना शक्य नहीं।

वर्षों से उपेक्षा करने वाले अपने प्राणाधार पतिदेव को ऐसे अचानक आया देखकर आनन्द के अतिरेक से वह संज्ञाशून्य-सी होकर पृथ्वी पर ढल पड़ने को ही थी कि पवनंजय ने शीघ्रता से आगे बढ़कर उसे अपनी सबल प्रेम भरी भुजाओं में थाम लिया।

प्रहसित क्षणमात्र में उस कक्ष से बाहर निकल आया था।

पवनंजय ने बड़ी सुकुमारता के साथ धड़कते हृदय से अंजना को उठाकर उसकी शय्या पर लिटा दिया। फिर उसके पैरों की ओर अपना हाथ बढ़ाते हुए बोला—

"अंजना ! देवी ! मुझे क्षमा कर सकोगी··· ···।"

अंजना एकाएक उठकर बैठ गई। उसने अपने पैरों की ओर बढ़ते हुए पवनंजय के हाथ को थाम लिया और बोली—

"मेरे देवता ! मेरे सर्वस्व ! मेरे प्राणाधार ! यह क्या कर रहे हैं आप ? मैंने अपने पूर्वकृत किन्हीं पापकर्मों का फल भोगा है. अब अपनी इस दासी के चरण छूकर मुझे और पाप में न घसीटिये। आप आ गए, मैं धन्य हो गई मेरे देवता ! मेरे देवता !!"

इतना कहकर उसने अपना सिर पवनंजय की गोद में छिपा लिया। उसके मस्तक पर हौले-हौले हाथ फेरते हुए पवनंजय ने कहा—

"देवी ! यह तुम्हारी सदाशयता और महत्ता ही है कि तुमने निरभिमान होकर मुझे अपना लिया है। किन्तु मैं जानता हूँ कि मेरा अपराध अक्षम्य है। मैंने तुम्हें कितना भीषण कष्ट दिया है। तुम्हारा कितना अपमान और उपेक्षा की है ? यह सब सोच-सोचकर मैं पश्चात्ताप की अग्नि में जला जा रहा हूँ। एक बार अपने मुख से कह दो कि तुमने मुझे क्षमा किया, अन्यथा मेरे हृदय को शान्ति नहीं मिल सकेगी।"

"नाथ ! ऐसी बातें कहकर आप मुझे लज्जित न कीजिए। आपने कहा कि मैंने निरभिमान होकर आपको अपना लिया है सो कैसी बात ? आप मेरे हैं. मैंने आपको छोड़ा ही कब था कि अपनाने का प्रश्न उठे ? मैं तो दिन-रात आपके ही नाम की माला जपा करती थी। रही बात पश्चात्ताप की, तो वह तो आपके मुझ दुखियारी की सुधि लेने के साथ ही समाप्त जाना चाहिए। जो कुछ भी घटित हो चुका वह एक दुर्योग था, एक दुःस्वप्न था। अब उसे भूल जाइये। मेरे सौभाग्य के इस स्वर्णावसर को अब इन

दुःखदायी बातों के स्मरण से बोझिल न बनने दीजिए। जहाँ परस्पर आत्मीयता तथा प्रेमभाव होता है वहाँ किसी अपराध अथवा क्षमा के आदान-प्रदान का प्रश्न ही नहीं रहता। संयोग होते हैं, समाप्त हो जाते है। अस्तु, अब इस अप्रिय अध्याय को भी समाप्त कीजिए।"

पवनंजय के हृदय का भार उतर गया। अंजना की श्रद्धा तथा प्रेम भावना ने उसमें नवजीवन का संचार कर दिया।

इसी प्रकार पवनंजय के प्रेम ने भी अंजना को नया जीवन प्रदान किया।

दो शरीर अब सही अर्थों में एक प्राण बनकर रह गए।

लम्बे, पीड़ादायी विरह के पश्चात् मिलन के माधुर्य एवं आनन्द की इस अलौकिक अनुभूति को यदि कोई जान सकता है तो केवल वही जिसने उन क्षणों को स्वयं ही भोगा हो। अथवा कोई समर्थ महाकवि ही इस अनुभूति को अपनी उज्ज्वल कल्पना में उतार सकता है। शताब्दियों के पश्चात महाकवि कालिदास ने विरही यक्ष एवं यक्षिणी के प्रतीक से ठीक इसी प्रकार की अनुभूति को अपने महाकाव्य 'मेघदूत' में वाणी दी थी—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ।
शेषान् मासान् गमयचतुरो लोचने मीलयित्वा॥
पश्चादावां विरहगुणितां तमतमात्माभिलाषं।
निर्वेक्ष्यावः परिणतशतः चन्द्रिकासु क्षपासु॥

(भावार्थ)—शापान्त होगा, भुजग-शयन से श्री विष्णु उठेंगे।

फिर हम विरह से गुणित अपनी अनेक अभिलाषाओं को सुख की शीतल चाँदनी रातों में पूर्ण करेंगे।

अंजना के लिए भी शापान्त हुआ।

एक मधु-रजनी जो कभी विनष्ट हो गई थी, वह आज को इस मिलन-रात्रि में उतर आई।

प्रभात होने से पूर्व ही पवनंजय सजग होकर उठ बैठा। उसे अपने सैन्य शिविर में उपस्थित होना था। बहुत काल के पश्चात सुख की नींद सोई अंजना को उठाकर उसने उसके दीप्त भाल पर एक स्नेहिल आशीर्वाद दिया और अनुमति माँगी—

'अंजन! अब मुझे जाना होगा। सुख से रहना, मैं शीघ्र लौट आऊँगा।"

"सत्य के पक्ष में रहकर युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके आप शीघ्र लौटें, यही मेरी जिनदेव से प्रार्थना है प्रियतम ! किन्तु·····।"

"किन्तु क्या ? कहो न अंजन, मन में कुछ रखो नहीं।"

बड़े संकोच के साथ, लज्जा से लाल होते हुए अंजना ने कहा—

"प्रियतम ! आपने मुझे अंगीकार किया है यह तथ्य प्रहसित के अतिरिक्त अन्य किसी को ज्ञात नहीं है। प्रहसित तो आपके साथ ही जाएगा। वह तो आपकी छाया है न ? लेकिन·····लेकिन यदि मैं गर्भवती हुई तो फिर क्या होगा ? मेरे गर्भ में आपकी ही सन्तान है इस बात को कौन स्वीकार करेगा ? इसका प्रमाण क्या होगा मेरे पास ?"

"ओह ! यह तो मैंने सोचा ही नहीं प्रिये ! लो, मेरी यह मुद्रिका लो। इसे अपने पास रखो। मेरी उपस्थिति का यह प्रमाण होगी।"

अपनी प्रियतमा से विदा लेकर प्रेमी पवनंजय चला गया।

उस मुद्रिका को अपने अधरों से लगाकर अंजना जाने कितनी देर तक जाने कैसे सुख के सपनों में खोई रह गई। □

पाँच

त्रिकालज्ञ केवलज्ञानी वीतराग भगवन्त जानते हैं कि किस जीव के भाग्य अथवा भविष्य में क्या-क्या लिखा है। उन सर्वज्ञानी भगवन्तों के अतिरिक्त यह बात न कोई कभी जान पाया है और न संभवतः जान ही सकेगा।

यह ठीक है कि अंजना का भाग्योदय हुआ था। उसका रूठा, बिछुड़ा पति उसे मिल गया था। और एक सती नारी के लिए यह कम सुख की बात नहीं थी। किन्तु अभी उसके जीवन की घटनाओं को अनेक ऊँचे-नीचे मोड़ लेने थे। कहा जा सकता है कि उसके अशुभ कर्मों का शमन अभी पूर्णरूपेण नहीं हुआ था।

पवनंजय एक रात के लिए आया और फिर उसे युद्धभूमि में लौट जाना था। वह तो चला गया। किन्तु पति के हृदय में परिवर्तन आ गया है, उनका भ्रम दूर हो गया है तथा उन्होंने मुझे अपना लिया है, इस अनुभूति से अंजना अत्यन्त प्रसन्न थी। भावी के गर्भ में क्या है, इसका ज्ञान उसे नहीं था।

प्रातःकाल होने पर अंजना प्रतिदिन के अनुरूप अपने दैनन्दिन कार्यों में लग गई। उसकी दिनचर्या में कोई अन्तर नहीं आया। वही स्नान-ध्यान और वही प्रभु-स्मरण एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन अथवा मुनिवरों का उपदेश-श्रवण।

कुछ अन्तर दिखाई दिया तो यही कि वह अब पहले की अपेक्षा अधिक प्रसन्नचित्त, शान्त एवं स्वस्थ दिखाई देने लगी थी। उसके जीवन में वही सरलता थी। उसकी सौम्य, शालीन मुखाकृति वैसी ही थी। उसका व्यवहार प्रत्येक व्यक्ति के प्रति वैसा ही प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण था। विवेकवान और ज्ञानवती होने पर भी विनय जो उसके चरित्र की विशेषता थी, वैसी ही थी। संक्षेप में, ऊपरी दृष्टि से देखने पर उसके जीवन-व्यवहार में कोई भी अन्तर नहीं आया था। बस, वह प्रसन्न थी। मन ही मन उसके हृदय में आनन्द का अमृत-सरोवर हिलोरें लेने लगा था।

यह तो स्वाभाविक ही था। वह निर्दोष, निरपराध सती नारी थी।

उसके पतिदेव ने भ्रमवश उसकी उपेक्षा की थी। वह भ्रम का भूत भाग गया था। प्रेम के देवता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था तब वह प्रसन्न क्यों न होती ?

अंजना के मन—जीवन में आए इस सुखद परिवर्तन को सबसे पहले उसकी अंतरंग सखी वसन्ततिलका ने ही भाँप लिया था। एक स्त्री के आन्तरिक मनोभावों को एक स्त्री ही सहजता से, शीघ्रता से जान सकती है। फिर वसन्ततिलका तो अंजना के प्राणों से एकाकार ही थी। अस्तु, उसने रूप से अनुमान कर लिया कि हो न हो, कुछ न कुछ बात ऐसी अवश्य हुई है जिसने उसकी सखी के जीवन में एक सुखद मोड़ ला दिया है। वह प्रसन्न रहने लगी है। उसके मुख की कान्ति निखर आई है। उसकी दुर्बल देह भी एकाएक स्वस्थ एवं सुपुष्ट होने लगी है।

ये सब परिवर्तन देखकर उसने अपनी प्रिय सखी से पूछा—

"क्यों अंजन ! क्या तू मुझसे कुछ छिपा रही है ?"

"क्या छिपाऊँगी मैं तुझसे भला ? और क्यों छिपाऊँगी ? आज तक कभी कोई बात मैंने तुझसे छिपाई है क्या, जो ऐसा पूछ रही तू ?"—अंजना ने रहस्यभरी मुस्कान के साथ उत्तर दिया।

"तो फिर सच-सच और शीघ्र बता कि ऐसी अचानक क्या बात हो गई है कि तू एकदम इतनी प्रसन्न दिखाई देने लगी है ? कल तक तो तेरे आँसू थमते नहीं थे।"

"अब थम गए हैं तो तुझे बुरा लग रहा है क्या ?"

वसन्ततिलका ने गुस्से में भरकर अंजना की बाँह में चिकोटी काट ली और बोली—"दुष्ट कहीं की, क्यों हैरान कर रही है मुझे, ऐसी बात कहकर ? क्या तेरी खुशी से मैं दुःखी होऊँगी ? क्या तूने तुझे ऐसी ही नीच समझा है..... ।"

"अरे अरे वसन्त ! बुरा मान गई ? मैं तो जरा तुझे चिढ़ाना चाहती थी।"—अंजना ने वसन्ततिलका के गले में मृणाल तन्तु जैसी अपनी सुकोमल बाहें डालते हुए कहा—"सुन, एक रहस्य की बात है, बताऊँ ?"

"बता न, जल्दी बता ! उत्सुकता के मारे अब तो प्राण ही निकलने लगे हैं।"

फिर अंजना ने बताया—

"सखी ! वे आए थे..... ।"

कुछ अनुमान तो वसन्ततिलका को हो रहा था, किन्तु किसी ने कुछ देखा नहीं था, कुछ जाना-सुना नहीं था, अतः उसने पूछा—

"कौन आये थे ?·····क्या कुमार····· ।"

अंजना ने अपनी प्रिय सखी से भी लजाते हुए कहा—"हाँ वसन्त ! वे ही । मेरे देवता ! मेरे आराध्य ! मेरे सर्वस्व !"

सुनकर वसन्ततिलका हर्ष से विभोर हो गई । अपनी सखी, और वह भी अंजना जैसी सखी की बात पर अविश्वास करने का उसके लिए प्रश्न ही नहीं था । फिर भी उसे जिज्ञासा तो थी ही । सारी बातें वह विगतवार जानना चाहती थी । पूछा उसने –

"कब ? कुछ पता ही नहीं चला किसी को । इतने बड़े सुख और सौभाग्य की बात तू मुझसे भी छिपाकर कैसे रख सकी ?"

"कहाँ छिपाया वसन्त ! बता तो रही हूँ । आज रात ही तो वे आए थे ।"

"आज रात ? फिर चले कहाँ गये ? कहाँ छिपा रखा है तूने उन्हें, शीघ्र बता । मैं भी तो देखूँ अब जरा उनकी सूरत । बड़ा अभिमान कर रहे थे·····।"

"नहीं, नहीं; वसन्त ! वे अभिमानी नहीं हैं, बड़े दयालु हैं । वह तो सब भ्रम था । मेरे अशुभ कर्मों का उदय था । वे तो बड़े दुःखी थे । बहुत पश्चात्ताप कर रहे थे ।"

"अच्छा अच्छा, बड़ी आई अब उनका पक्ष लेने वाली । किन्तु बता तो सही, वे हैं कहाँ ? मैं उनकी अच्छी खबर लूंगी । बड़े बहादुर राजकुमार हों तो हों, मेरी सखी को ऐसा दारुण दुःख देने वाले को मैं छोड़ूंगी नहीं । कहाँ हैं वे ?"

"जहाँ उन्हें होना चाहिए । अपने सैन्य के साथ ।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि वे रात को आकाश मार्ग से आए थे, रहे और प्रभात होने से पूर्व चले भी गये ।"

अंजना की यह बात सुनकर वसन्ततिलका कुछ निराश हुई । वह आड़े हाथों लेना चाहती थी कुमार पवनंजय को । वह अवसर फिलहाल तो उसके हाथ से निकल ही गया । खैर, उसने सोचा, लौटकर आएँगे तो सही, तभी देखूंगी उन्हें ।

उसे चुप देखकर अंजना ने पूछा—"क्योंरी, चुप क्यों लगा गई ? क्या सोचने लगी ।"

"कुछ नहीं । बस यही सोच रही हूँ कि आखिर प्रभु ने तेरी सुन ही

ली । कहते हैं न, कि अन्त भला तो सब भला । लेकिन अंजन ! एक विचार मेरे मस्तिष्क में अचानक आ गया है.....।"

"जानती हूँ तू क्या सोच रही है । वह विचार मेरे भी मस्तिष्क में आया था । मैंने उसका उपाय कर लिया है । देख, यह क्या है ।"

इतना कहकर अंजना ने अपने गले की सोने की माला अपनी कंचुकी में से निकालकर वसन्ततिलका को बताई । उस माला में कुमार पवनंजय की मुद्रिका पिरोई हुई थी । वसन्ततिलका ने उसे ध्यान से देखा, आश्वस्ति का भाव उसके चेहरे पर आ गया और उसने कहा—

"यह तूने बहुत ठीक किया अंजना ! कुमार का यह स्मृतिचिन्ह तूने जो लिया यह बहुत आवश्यक था । अब मैं निश्चिन्त हुई । अन्यथा यह संसार कितना शंकालु है, कितना कठोर है, यह तू भी जानती ही है । यदि यह मुद्रिका न होती तो भला कौन विश्वास करता कि वर्षों से जिन्होंने अपनी पत्नी की सूरत भी नहीं देखी, वे कुमार अचानक ही एक रात के लिए उसके पास आए होंगे ?"

अंजना ने मन्द-मधुर मुस्कान के साथ कहा,—"अब तो करेगी न दुनिया मेरा विश्वास !"

"क्यों नहीं करेगी ? अवश्य करेगी । चल सखी, आज मैं खूब खुशियाँ मनाऊँगी ।"

"तेरे जो जी में आए कर । किन्तु देख, संयत रहना । अपने हृदय का हर्ष अपने हृदय में ही समाए रखना । और यह रहस्य अभी किसी के समक्ष प्रकट न करना । कौन जाने ?"

"कौन क्या जाने ? जिसे जो जानना हो वह जानता रहे । अब क्या चिन्ता ? मैं जो हूँ तेरे साथ । और कुमार की यह साक्षी मुद्रिका जो है तेरे पास ।"

"सो तो है ही वसन्त ! फिर भी तनिक सावधानी तो रखनी ही चाहिए ।"

"ठीक है, तू चिन्ता न कर । घी के दीपक जला, मेरी प्यारी सखी ! सुखी रह ।"

इसी प्रकार आशा, आश्वासन, स्वप्न और नाना प्रकार की सुख की कल्पनाओं में बीतते चले गए उन सखियों के दिन और रात ।

× × × ×

किन्तु सुख के वे दिन और वे रातें देखते-देखते ही समाप्त भी हो गए। अंजना के सुख की अथवा पुण्योदय की वह अवधि लम्बी नहीं थी। अल्पकाल में ही, एकाध मास व्यतीत होते-होते गर्भ के लक्षण प्रगट हो गए। वे लक्षण तो किसी भी प्रकार छिपाए छिप नहीं सकते थे। अंजना की सेवा में निरत दासियों के पश्चात् महारानी केतुमति तक यह सूचना पहुँचने में कोई विलम्ब नहीं लगा।

भाग्य-अभाग्य की बात है। जो सूचना परम सुख की सूचना होनी चाहिए थी वह दुःख की सूचना के रूप में प्रगट हुई। रानी केतुमति सहित सभी ने यह सोचा और बिना समुचित परीक्षा अथवा प्रमाण का विचार किए ही अंजना को असती, कलंकिनी मान लिया गया। रानी केतुमति अंजना के महल में आँधी की तरह प्रविष्ट हुई और क्रोध से फुफकारती हुई बोली—

"कलंकिनी ! किस कलमुँहे के साथ तूने अपना मुँह काला किया है री ?"

बेचारी सती हतप्रभ रह गई। उसकी आंखों से झर-झर आंसू बह निकले। भय एवं शोक से काँपते हुए उसने जैसे-तैसे कहा—

"माता ! यह आप क्या कह रही हैं ? मैं निर्दोष हूँ.....।"

"निर्दोष है तू ? अभागी पर-पुरुष के साथ सहवास करने के पश्चात् भी तू स्वयं को निर्दोष कह रही है ? लज्जा भी नहीं आती तुझे ?"

"माँ ! मेरी बात तो सुनिये। किसी पर-पुरुष का विचार तक मेरे मन में कभी स्वप्न में भी नहीं आता.....।"

"तब तेरे इस सत्यानाशी गर्भ में यह जो सन्तान आई है वह क्या आकाश से टपक पड़ी ?"

"माता जी ! सुनिये तो सही, यह सन्तान आप ही के पुत्र की है.....।"

"चुप रह कलमुँही, मेरे पुत्र का नाम लेकर अब उसे कलंकित न कर। वैसे तूने छोड़ा ही क्या है ? हमारे समस्त राजपरिवार की उज्ज्वल कीर्ति को तूने कलंकित कर दिया है।"

वसन्ततिलका समीप ही कहीं थी। उसने यह वार्तालाप सुना तो घबराई हुई समीप आकर हाथ जोड़कर बोली—

"महारानी जी ! कुमार पवनंजय एक रात अपना शिविर छोड़कर यहाँ आये थे। उनकी मुद्रिका अंजनादेवी के पास है। आप ही देख लीजिए। अंजनादेवी, महारानी जी को वह मुद्रिका दिखा दीजिए।"

अंजना ने संकोच के साथ, किन्तु आशावान होकर अपने गले की माला निकालकर वह मुद्रिका महारानी केतुमति को दिखाई। उन्होंने वह मुद्रिका देखी, उसे पहचान भी लिया, पवनंजय की ही थी वह मुद्रिका; किन्तु अंजना के तो अशुभ कर्मों का उदय फिर से हुआ था, महारानी को फिर भी विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहा—

"मुद्रिका पवनंजय की अवश्य है, किन्तु इसका क्या प्रमाण कि वह यहाँ आया था? यह असम्भव है। वह यहाँ आता तो क्या हमें पता न चलता? यह सब तुम दोनों दुष्टाओं का कुचक्र है। किसी को भी यह मुद्रिका प्राप्त करने में ऐसी कौन-सी बड़ी कठिनाई है? निकल जाओ, तुम दोनों यहाँ से। इस राजमहल से, इस राज्य से दूर चली जाओ। कुल को कलंकित करने वाली दुश्चरित्रा को एक घड़ी भी मैं यहाँ नहीं रहने दूंगी। अरे कोई है·····।"

उनकी पुकार सुनते ही द्वार-रक्षिका दासी भीतर प्रविष्ट हुई।

महारानी ने आदेश दिया—

"सारथी को रथ तैयार करने की सूचना दो। इन दोनों को इसी घड़ी राज्य की सीमा से बाहर निकाल दो।"

"माता जी! माता जी! तनिक सुनिये तो, दया कीजिये, दया कीजिये मुझ निर्दोष अबला पर·····।"

"अब जो कुछ सुनाना है वह जाकर सुनाना अपने माँ-बाप को, जिन्होंने यह पाप की गठरी हमारे माथे पर पटक दी है।"—कहते-कहते महारानी केतुमति आवेश में भरी हुई वहाँ से चली गई।

अंजना की आँखों के आगे अँधेरा छा गया।

संज्ञाशून्य होकर वह वसन्ततिलका की बाँहों में झूल गई।

उसकी संज्ञा जब लौटी तब रथ तीव्र गति से दौड़ रहा था। चारों ओर सघन वन फैला हुआ था। भगवान भास्कर शायद इस करुण दृश्य को देख नहीं पा रहे थे। दुःखी और निस्तेज होकर वे जल्दी-जल्दी अस्ताचल की ओर चले जाना चाहते थे।

एक स्थान पर आकर रथ रुक गया। सारथी ने रथ से नीचे उतर कर हाथ जोड़कर अंजनादेवी से कहा—

"देवी! अपराध क्षमा हो। राजा-महाराजाओं की बातें राजे-महाराजे जानें। मैं तो एक बूढ़ा सेवक हूँ, जिसका कार्य आदेशों का पालन करना ही है। यहाँ आदित्यपुर की सीमा समाप्त होकर महेन्द्रपुर की सीमा प्रारंभ होती है। मुझे आदेश है कि आपको यहीं छोड़कर लौट जाऊँ।"—इतना

कहकर बूढ़े सारथी ने अपने उपवस्त्र की बाँह से आँखों में आ गए आंसुओं को पोंछ लिया ।

वसन्ततिलका ने सहारा देकर अंजना को रथ से नीचे उतारा। बूढ़े सारथी को उसके सहानुभूतिपूर्ण वचनों के लिए धन्यवाद दिया और अंजना की बाँह थामकर आगे मार्ग पर चल पड़ी ।

रथ पलटकर आदित्यपुर की ओर चल पड़ा । उसकी घरघराहट दोनों सखियों की छातियों पर वज्रप्रहार के सदृश प्रतीत हुई। कुछ क्षण ही बीते और फिर चारों ओर शान्ति छा गई ।

× × × ×

सुनकर अथवा पढ़कर हम बहुत-सी बातें जानते हैं। ज्ञान अर्जित करते हैं। अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ भी हमें इस प्रकार प्राप्त होती हैं। किन्तु स्वयं अनुभूत सत्य जो होता है, वह उस ज्ञान से पृथक, अधिक गहरा, बहुपक्षीय एवं चिरस्थायी होता है। कहावत है कि जिसके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई ? कोई सन्देह नहीं कि सज्जन व्यक्ति, साधुजन, पराई पीर को भी जानते हैं, अनुभव करते हैं, उससे दुःखी होते हैं और उस पराई पीर को दूर करने का प्रयत्न भी करते हैं। साधुजन की यह विशेषता है तथा स्वीकार करना भी चाहिए ।

किन्तु जानी-सुनी-देखी-पढ़ी बात तथा स्वानुभूति में जो मूल अन्तर है वह तो रहेगा ही ।

उस विजन वन में, घिरते हुए अन्धकार में, उन एकाकिनी अबलाओं को दुःख की कैसी अनुभूति हुई होगी तथा माथे पर लगे कलंक के भार ने उनका आत्मा को कितना पीड़ित किया होगा, इसकी कुछ कल्पना ही तो हम कर सकते हैं। वह अनुभूति, दारुण दुःख एवं चिन्ता की वह सघन पीड़ा-दायक अनुभूति हमारे अन्तर् में आखिर कैसे उतर सकती है।

बड़ी कठिन, काली थी वह रात ।

वसन्ततिलका साहसी बाला थी। अंजना भी कुसुम कोमल होते हुए भी दृढ़ चरित्र वाली वीरबाला थी। निरन्तर साधुजन के सदुपदेशों से उनके हृदय तो निर्मल हुए ही थे, आत्मशक्ति भी बढ़ी थी। मुनियों की कठोर दिनचर्या को सदैव देखते-देखते तथा अरिहन्त भगवन्तों की उपासना करते-करते उनमें पर्याप्त मात्रा में आत्म-सामर्थ्य आ चुका था। फिर भी वे बेचारी अबलाएँ उस सघन वन में, उस घोर कष्टदायक परिस्थिति में कैसे रह सकी होंगी, यह कहना कठिन है ।

किन्तु यथार्थ तो यथार्थ ही है। जो कुछ भी है उसका साहस के साथ सामना करने के अतिरिक्त अन्य क्या मार्ग हो सकता है हमारे सामने ? रोने-धोने से क्या बनता है ? निराश हो जाने से कठिनाई कैसे मिट सकती है ? धैर्य का आलम्बन भी त्याग देने पर फिर अस्तित्व की रक्षा का अन्य क्या उपाय शेष रह जाता है ?

जो हुआ सो हुआ, हो ही गया वह तो। कर्मों का जो भी फल आना था, वह आ गया। किन्तु अब आगे की ओर ही तो देखना चाहिए न ? कैसी भी विषम परिस्थिति में घिर गए हैं, मगर अब इसमें से छुटकारा पाने का उपाय ही तो करना चाहिये न ? केवल छटपटाने से क्या कुछ होना जाना है ? दुर्भाग्य के इस जाल को तो काट डालने से ही मुक्ति मिलेगी न ?

यही विवेकपूर्ण विचार किया वसन्ततिलका ने।

चलते-चलते दिखाई पड़ा एक सूना मन्दिर। उसी सूने मन्दिर में आश्रय लिया उन दोनों सखियों ने। लथपथ पसीने से तर अपने शरीर को आँचल से पोंछकर, साँस लेकर वसन्ततिलका ने अंजना से कहा—

"देख अंजना ! अब हिम्मत हारने से काम नहीं चलेगा। यह ठीक है कि हम विकट से विकट परिस्थिति में पड़ गई हैं। हमारे सामने अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। लेकिन अन्धकार के पार प्रकाश भी होता ही है। तू विदुषी है। तुझे क्या समझा सकती हूँ मैं ? किन्तु तेरी सखी है, तेरे साथ है, तुझे कुछ सहारा तो दे ही सकती है। और सहारा क्या, कहने की आवश्यकता ही नहीं कि जिऊँगी तो तेरे साथ, मरूँगी तो तेरे साथ।

"अतः अब चिन्ता और निराशा को एकबारगी ही त्याग दे। हिम्मत के साथ सिर ऊँचा कर और निश्चय कर कि इस विपत्ति को भी सहन करना ही है। इसके पार उतरना ही है। अधिक से अधिक अब और होना भी क्या है ? स्वजनों से प्रताड़ित, तिरस्कृत हम लोगों के प्राण किसी विजन वन में भटकते-भटकते निकल जाएँगे, अथवा कोई हिंसक पशु हमें अपना आहार बना लेगा, इतना ही न ? ऐसा ही हो तब भी क्या ? प्राणों को तो एक न एक दिन निकल ही जाना है ? किन्तु हमारी आत्मा निष्कलंक है, अमृत-मय है, उसे निष्कलंक एवं अमृतमय ही बनाये रखना है। दुःख और निराशा का विष हमारी आत्मा को प्रभावित न करे, यह हमें देखना है।"

अंजना, विवेकवती और वीर सती अंजना भी अब धीरे-धीरे

स्वस्थ हो चली थी। उसकी विचारधारा में वसन्ततिलका की यथार्थ स्थिति का विवेचन करती हुई विचारधारा भी आ मिली थी। उसने कहा—

"वसन्त! तू जो कुछ भी कह रही है, वह यथार्थ है। किन्तु यह यथार्थ कितना कठोर बनकर आज हमारे सामने आ खड़ा हुआ है।"

"यथार्थ और सत्य प्रायः कठोर ही होते हैं, अंजना! उनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। चिन्तन करके उचित मार्ग ढूंढ़ना चाहिए। तू क्या सोचती है अब, यह बता। क्या करना चाहिये हमें? कहां चलना चाहिये?"

"मुझे तो कुछ सूझता नहीं। कभी-कभी विचार आता है कि इन सारे दुःखों की जड़ इन प्राणों का ही अन्त कर दूँ·····।"

"पगली है तू! आत्महत्या का पाप और अपने सिर चढ़ाना चाहती है। इतनी विदुषी और विचारवान होकर तू ऐसा सोच भी कैसे सकती है? और फिर तेरे पास तो एक महान् थाती भी है किसी की·····।"

"आह, वसन्त! तू ठीक कहती है। किन्तु अब किया क्या जाय?"

"यही मैंने तुझसे पूछा था। किन्तु हम दोनों की अवस्था समान ही है। ठीक से कुछ समझ में आ नहीं पा रहा है, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि कोई न कोई मार्ग खोज निकालना ही होगा। देखा जायगा। मार्ग भी सूझेगा। पहले उठ, इस मन्दिर के बाहर पश्चिम की ओर एक वापी देखी थी मैंने। स्वच्छ है उसका जल। आ अपनी भूख और प्यास उसी शीतल जल से बुझा लें। फिर देखेंगे।"

उस स्वच्छ शीतल जल ने उनके तन-मन-आत्मा की कितनी प्यास और जलन बुझाई यह तो परमात्मा ही जानें किन्तु उस प्राकृतिक जल-पान के पश्चात् वे कुछ अधिक स्वस्थ होकर मन्दिर के प्रांगण में पुनः आ बैठीं।

आकाश निरभ्र था। तारे झिलमिला रहे थे। कभी कोई तारा झिलमिल झलक उठता क्षण मात्र को और फिर दूसरे ही क्षण विलुप्त भी हो जाता।

आँख-मिचौनी सी चल रही थी आकाश में।

अंजना के भाग्याकाश की भी क्या यही दशा न थी?

भाग्याकाश की लिपि को पढ़ने का प्रयत्न करते-करते थकी-माँदी दोनों सहेलियों की आँखें कब मुँद गईं किसी को पता नहीं चला।

× × × ×

पाँख-पखेरुओं की आँखें सबसे पहले खुलीं। आलस्य का त्याग कर वे अपने-अपने नीड़ों से बाहर उड़े और संगीत की सृष्टि करने लगे। उनका

कलरव सुनकर दोनों सहेलियाँ भी जाग पड़ीं। पक्षी तो निर्द्वन्द्व थे। वे अपने दाने-पानी की तलाश में इधर-उधर उड़ने लगे, किन्तु प्रश्न अंजना और वसन्ततिलका के सामने था कि वे क्या करें ?

खूब सोच-विचार के बाद वसन्ततिलका ने कहा—

"अंजना ! हम इस समय महेन्द्रपुर राज्य की सीमा में हैं और महेन्द्रपुर यहाँ से बहुत अधिक दूर भी नहीं है। एक-दो दिन में हम वहाँ तक पहुँच सकती हैं। क्या हमें वहाँ चलना चाहिये ? मैं सोचती हूँ कि चलना ही चाहिये। तू अग्नि के समान पवित्र है। जो हुआ है वह अन्याय ही हुआ है तेरे साथ। ऐसी स्थिति में जन्म देने वाले अपने माता-पिता की शरण में जाने में संकोच क्यों होना चाहिए ?"

"किन्तु वसन्त, मुझे बड़ा भय लग रहा है। जब मनुष्य का भाग्य ही विपरीत हो तब सभी कुछ उलट जाता है। जो कुछ वहाँ आदित्यपुर में हुआ यदि वही स्थिति वहाँ भी हो गई तो ? आदित्यपुर में किसी ने मेरा विश्वास नहीं किया, मुझे अपराधिनी ही माना, यदि यहाँ मेरे माता-पिता ने भी मुझे अपराधिनी मान लिया तो ? मैं कैसे सह सकूँगी वह पीड़ा ?"— अंजना ने कहा।

"यदि ऐसा हुआ भी, और मैं स्वीकार करती हूँ कि ऐसा हो भी सकता है, तो भी कोई चिन्ता नहीं अंजन ! हम सब कुछ सहन करेंगी। हमारी आत्मा पवित्र है तो परमात्मा भी हमारी सहायता करेंगे ही। आज नहीं तो कल, सत्य संसार के सामने प्रकट होगा ही, तब तक जो भी कष्ट हमें सहन करने पड़ेंगे, करेंगी। तुझे वह सूत्र याद है न ?—'कालोहि अयं निरवधिः विपुला च पृथ्वीः।'—यह काल अनन्त, निरवधि है तथा पृथ्वी विपुला है। हम कहीं भी चली जाएँगी, कुछ भी करेंगी, जो कुछ भी हमारे ऊपर बीतेगी उसे साहस एवं धैर्य के साथ सहन करेंगी तथा प्रतीक्षा करेंगी प्रकाश के प्रस्फुटित होने की। बस, अंजन, यही निर्णय ठीक है। हमें तेरे माता-पिता के पास महेन्द्रपुर एक बार तो चलना ही चाहिये। फिर जो होगा, वह देखा जायगा। चल उठ, वापी के जल से हाथ-मुँह धो लें, वीतराग भगवान का स्मरण कर लें और आगे बढ़ें।"

इस निर्णय के पश्चात् वे दोनों दैनिक कार्य-कलापों से निवृत्त होकर, प्रभु-स्मरण करके चलने को उद्यत हुईं, किन्तु असमंजस में थीं कि किस मार्ग को ग्रहण किया जाय। वह तो विजन वन था। चारों ओर पगडंडियाँ तो जाती दिखाई देती थीं किन्तु कौन-सी पगडण्डी किधर ले

जाएगी, यह वे नहीं जानती थीं। और महेन्द्रपुर का सीधा मार्ग उन्हें बता सके ऐसा कोई व्यक्ति दूर-दूर तक कहीं दिखाई नहीं देता था।

कुछ क्षण वे दुविधा की स्थिति में पड़ी रहीं।

तभी कहीं दूर से आती धीमी-धीमी घंटियों की सी ध्वनि उनके कानों से टकराने लगी। जिस दिशा से वह ध्वनि आ रही थी उस दिशा में ध्यान केन्द्रित कर वे सुनने लगीं। उन्हें लगा कि वह ध्वनि जैसे धीरे-धीरे उनके समीप होती जा रही है। कुछ आशा जागी, किसी मानव-शरीरी के आस-पास होने तथा अपनी ही ओर आते दिखाई देने की। ठहर-कर वे प्रतीक्षा करने लगीं।

कुछ ही देर बाद गायों का एक समूह उन्हें उस मन्दिर की ओर आता दिखाई दिया। गौएँ हैं तो ग्वाला भी साथ में होगा ही, यह सोचकर उन्हें कुछ आश्वस्ति मिली कि और कुछ नहीं तो कम से कम महेन्द्रपुर के मार्ग का ज्ञान तो उन्हें उस गोपाल से प्राप्त हो ही सकेगा।

धीरे-धीरे गाएँ चरती-चरती मन्दिर के आसपास इधर-उधर बिखर गईं और उनके पीछे-पीछे हाथ में लाठी लिए एक गोपाल भी उन्हें आता दिखाई दिया। उस किशोर गोपाल को वसन्ततिलका ने संकेत से अपने समीप बुलाया।

गोपाल झिझककर दूर खड़ा रह गया था। उस बेचारे को बड़ा विस्मय हो रहा था कि इस निर्जन वन में ये दो देवियाँ कहाँ से आ गईं? उसने अपने जीवन में कभी इतनी सुन्दर स्त्रियों को देखा ही नहीं था। नाम अवश्य सुने थे उसने देवी सरस्वती और लक्ष्मी के। वार-त्यौहारों पर उसके ग्राम में लक्ष्मीपूजन भी होता था। किन्तु वे देवियाँ स्वर्ग से उतर कर इस जंगल में क्या करने आएँगी भला? या फिर उसने सुने थे राजा-रानियों के किस्से। सुना था कि रानियां बड़ी सुन्दर होती हैं, एकदम देवियों के समान। किन्तु प्रश्न उसके छोटे-से दिमाग में फिर भी वही था—इस जंगल में ये अकेली रानियाँ क्या करने आएँगी भला?

वह गोपाल उन देवियों को देखकर झिझका तो अवश्य था, किन्तु भयभीत नहीं हुआ था। एक तो उसके सरल निष्कलमष मन में भय के लिए कोई स्थान था ही नहीं, दूसरे अंजना तथा वसन्ततिलका की सौम्य मुखच्छवि इतनी प्रेममय और शान्ति प्रदान करने वाली थी कि देखने वाले के मन में सहज रूप से विश्वास एवं उत्साह ही उत्पन्न हो सकते थे। किसी भी प्रकार के भय के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

अतः वसन्ततिलका द्वारा समीप आने का संकेत किये जाने पर वह

गोपाल अपनी आरंभिक झिझक का त्याग करके उनके पास आ गया और विस्मय तथा विश्वास दोनों से भरे अपने भोले-भाले नेत्रों से वह उन्हें देखता रहा। तब वसन्ततिलका ने उससे पूछा—

"प्यारे बच्चे ! तुम कहाँ रहते हो ? ये सुन्दर-सुन्दर गौएँ तुम्हारी ही हैं न ?

"हाँ जी, मेरे बाबा की है।"

"तुम्हारे बाबा कहाँ रहते हैं ?"

"गांव में।"

"गाँव कहाँ है ?"

"उधर ?" —गोपाल ने हाथ से इशारा करते हुए बताया।

"अच्छा, तुम तो बहुत अच्छे बच्चे हो। एक बात तो बताओ, तुमने महेन्द्रपुर का नाम सुना है ?"

"हां जी, वहाँ तो हमारे राजा-रानी रहते हैं।"

"अच्छा, किधर है वह महेन्द्रपुर ? उधर जाने का रास्ता मालूम है तुमको ?"

"हाँ जी, हमारे गाँव से सीधी लीक-लीक बैलगाड़ी में बैठ कर चले जाते हैं।"

"अच्छा ! तुम्हारे गाँव से सीधी लीक-लीक बैलगाड़ी जाती है ? यह तो बड़ी अच्छी बात है। लेकिन मान लो हम यहाँ से सीधे महेन्द्रपुर जायें तो किस रास्ते से जायेंगे ? यहाँ तो देखो चारों तरफ ही पगडण्डियाँ दिखाई दे रही हैं।"

"पगडण्डियाँ क्या होती हैं जी ?"

अंजना और वसन्ततिलका उस गोपाल के भोलेपन पर मन ही मन मुस्कुरा उठीं। वसन्ततिलका ने कहा—

"देखो, ये जो टेढ़े-मेढ़े, पतले-पतले रास्ते दिखाई दे रहे हैं न घास और झाड़ियों के बीच में, जिधर से तुम आते-जाते हो, तुम्हारी गाएं आती जाती हैं, उन्ही को पगडण्डी कहते हैं।"

"अच्छा, हम तो इसे गैल कहते हैं। बाबा भी गैल कहते हैं। वे मुझसे रोज कहते हैं कि बेटा, इस गैल-गैल जाना और इसी गैल-गैल लौट आना। पगडण्डी का नाम तो आपने ही बताया।"

"चलो ठीक है, तुमको एक नया नाम तो मालूम हुआ। अच्छा हुआ न ? तो अब बताओ कि हम महेन्द्रपुर जाएँ तो किस पगडण्डी से जाएँ,

नहीं,""किस गैल से जाएँ ?"—कहकर वसन्ततिलका हँस पड़ी। गोपाल भी हँस पड़ा। अपना सिर खुजलाते हुए बोला—

"इधर से किधर जायेंगे यह तो मुझे नहीं मालूम। बाबा को मालूम होगा। उन्हें बुलाकर लाता हूँ, वे बता देंगे।"—यह कहकर वह जाने को उद्यत हो गया तो वसन्ततिलका ने कहा—

"लेकिन प्यारे बच्चे ! तुम्हारा गाँव है कितनी दूर ? तुम थक जाओगे हमें भी धूप चढ़ जायगी। ऐसा करते हैं·····।"

"गाँव दूर नहीं है जी, महेन्द्रपुर बहुत दूर है। गाँव तो वह रहा, इस तरफ से उस तरफ जाकर वह जो पहाड़ी दिखाई दे रही है न, उसके बगल से जो नदी बहती है उसके पार ही तो है। मैं अभी गया, अभी आया बाबा को लेकर।"—कहकर गोपाल मुड़कर जाने लगा। वसन्ततिलका ने फिर उसे रोककर कहा—

"अरे, लेकिन सुनो तो सही, ऐसा करते हैं कि हम तुम्हारे साथ तुम्हारे गाँव ही चले चलते हैं। वहाँ बाबा से रास्ता पूछकर आगे चले जायेंगे।"

"नहीं जी नहीं, आप थक जायेंगी। मैं बाबा से कहूँगा, वे बैलगाड़ी ले आएँगे। आप उसमें बैठकर चली जाना। आप इतनी दूर पैदल कैसे चल सकती हैं ?"

"देखो बच्चे, हम पैदल चल सकती हैं। हम कोई रानी-महारानी थोड़ी ही हैं कि पैदल भी न चल सकें·····।"

"नहीं जी नहीं," बालक को वसन्ततिलका की इस बात पर बिलकुल भी विश्वास नहीं हुआ कि वे रानी नहीं है और यह कि वे पैदल चल सकती हैं। उसे जो आश्चर्य था वह यही कि वे उस जंगल में आईं तो आईं कहाँ से ? इस महान् आश्चर्य की बात को वह अपने बाबा को जल्दी से जल्दी बताना भी चाहता था। और फिर "यह भी मेरे साथ चलेंगी तो फिर मेरी इन गौओं को कौन देखेगा ? कहीं इधर-उधर चली गईं तो ? कहीं कोई भालू-भेड़िया आकर इन्हें खा गया तो ?"—बालक की सहज बुद्धि में यह एक विचार भी आ गया और उसने झटपट अपने हाथ की लाठी वसन्ततिलका के हाथ में थमाते हुए कहा—

"आप तो यह लाठी लेकर यहीं बैठी रहिये। गौओं को ध्यान से देखती रहना। मैं अभी बाबा को लेकर आता हूँ।"

बस, इतना कहकर वह मुड़कर दौड़ ही तो पड़ा।

मोटी-सी वह लाठी हाथ में थामे वसन्ततिलका ने अंजना की ओर असमंजस से देखा तो उस गहन विपत्ति की बेला में भी वे दोनों सखियाँ अपनी इस विचित्र स्थिति पर एक बार खुलकर हँस पड़ीं।

वह गोपाल खरगोश की तरह उछलता-कूदता कुछ दूर तक भागता दिखाई दिया और फिर घने वृक्षों की ओट हो गया।

अब क्या करें ?

भालू-भेड़िया आ गया तो ?

अन्य सामान्य स्त्रियाँ होतीं तो शायद उस निर्जन सघन वन में इस आशंका से भयभीत होकर चीख-चिल्लाकर ही मर जातीं।

किन्तु वे वीरबालाएँ थीं। और निश्चय कर चुकी थीं कि जो होना है, वह होना ही है; जो भाग्य में है, उसे भोगना ही है—साहस के साथ, धैर्य के साथ, आशा और विश्वास के साथ। मजबूती से लाठी हाथ में थामे वसन्ततिलका सतर्क दृष्टि से गायों की रखवाली करने लगी। अंजना भी निर्भय किन्तु निःशब्द बैठी गायों के गलों में बंधी घन्टियों की रुनझुन का संगीत सुनती रही।

गोपाल के बाबा आज फुरसत में रहे होंगे। घर के आँगन में ही नीम के पेड़ के नीचे कच्चे चबूतरे पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। सेर-सवा सेर का छाछ का लोटा खाली करके एक तरफ रखने के बाद उन्हें हुक्के की तलब आ गई थी।

आँगन का उड़काया हुआ द्वार धड़ाक से खुला और हाँफता-हाँफता गोपाल भीतर आकर बाबा के कन्धे जोर-जोर से हिलाता हुआ बोला—

"जल्दी चलो बाबा! देखो, जंगल में कौन आया है ? मैं आपको बुलाने आया हूँ।"

शेर आ गया, भालू आ गया, भेड़िया आ गया—क्या हो गया कि बच्चा इस तरह भागता-भागता आया है ? बाबा विस्मित हो उठे। उनके हाथ के हुक्के की नली ने गुड़गुड़ करना बन्द कर दिया। उसके बदले उनकी छाती धड़-धड़ करने लगी। पूछा—

"क्या हुआ बेटा ? क्या हुआ ? शेर आ गया·····?"—कहते-कहते वे उठ खड़े हुए। जंगल में और क्या होगा ? और कौन आएगा ? यह सोचते-सोचते उन्होंने पास में रखी पगड़ी माथे पर पटकी, नीम के तने के आसपास ही कहीं रखी कुल्हाड़ी हाथ में ली और कहने लगे।

लेकिन वे कुछ कहें उसके पहले ही गोपाल कहता चला गया—

"बाबा, कुल्हाड़ी का क्या करेंगे, कोई शेर थोड़े ही आया है ? अरे, वहाँ महादेव जी का मन्दिर है न, जहाँ मैं रोज अपनी गाएँ चराता हूँ वहाँ दो देवियाँ आई हैं।"

एक महादेव के मन्दिर में दो देवियाँ ? यह लड़का भी कभी-कभी बहुत विचित्र बातें करता है। गाएँ चराते-चराते सो गया होगा ? सपना देखकर भाग आया लगता है। सोचकर बाबा की जान में जान आई। उन्होंने कहा—

"मुनुआ, तू सुबह-सुबह ही सो गया था क्या ?"

"अरे नहीं बाबा, हुक्का गुड़गुड़ाते-गुड़गुड़ाते ऊँघ तो आप ही रहे थे। मैं सच्ची कह रहा हूँ, दो देवियाँ वहाँ आई हैं। या तो फिर रानियाँ होंगी। उन्हें महेन्द्रपुर जाना है।"

"अच्छा ! और कौन है उनके साथ ?"

"कोई भी नही। बस दो ही हैं। बड़ी अच्छी हैं वे दोनों बाबा ! मेरे साथ बड़े प्यार से बातें कर रही थीं। मेरे से महेन्द्रपुर का रास्ता पूछ रही थीं। मैंने बता दिया—गाँव के पास से सीधी लीक-लीक बाबा की बैल-गाड़ी जाती है। तो कहने लगीं कि यहीं से कोई सीधी पगडण्डी जाती होगी, वही बता दो। तो मैंने कहा कि मुझे पगडण्डी-बगडण्डी नही मालूम। मैं बाबा को बुला लाता हूँ..... ।"

"पगडण्डी ?....."

'अरे आपको पगडण्डी का मतलब भी मालूम नहीं बाबा ?"—कहकर बाबा का मुनुआ खूब जोर से, आनन्द से हँसा और उसने अपने बाबा को समझाया—

"ये जो गैल होती है न गैल, उसी को तो पगडण्डी कहते हैं..... ।"

"अच्छा-अच्छा, अब अधिक ज्ञान मत बघार। मुझे सोचने दे।"

कहकर सोचने के नाम पर उन्होंने मुनुआ की माँ को आवाज दी—

"अजी सुना तुमने ? जरा, इधर तो आओ। तुम्हारे मुनुआ को आज जंगल में महादेव के मन्दिर में एक नहीं, दो देवियों ने दर्शन दिये हैं। और उनके दर्शन करने मुझे बुलाने आया है।"

मुनुआ की माँ हाथ का काम छोड़कर आई और सारी बात चुपचाप सुनी। कुछ समझ नहीं पाई। बाबा ने पूछा—

'क्या समझीं ?"

"समझ गई जी।"

"समझ गई यह तो मैं भी समझ गया। मगर क्या समझी ?"

"जरूर मेरे बेटे को किसी भूतनी-चुड़ैल ने डराया है..... ।" कह-कहकर बेचारी मुनुआ की मां उसकी नजर उतारने का उपक्रम करने ही लगी थी कि बाबा ने डाँटकर कहा—

"बस, खूब समझ-समझाकर समझी तो यही समझी। अरे, तुझे मैंने हजार बार समझाया है कि भूत-वूत कुछ नहीं होते। और चुड़ैलें होती होंगी तो तेरे जैसी, और कोई नहीं होतीं। हे भगवान, हे जिनदेव, इसे कब समझ आएगी ?"

इतना कहकर अपनी पत्नी की समझ की ओर से निराश होकर, बाबा ने मुनुआ से कहा—

"जा तो, पतरिया और गट्टा को जोड़ दे गाड़ी में। यह कुल्हाड़ी भी रख ही ले गाड़ी में। तब तक मैं और सोच लूँ जरा।"

मुनुआ बड़े उत्साह से बैलगाड़ी लाने गल्ले की ओर चला गया। बाबा सोचने लगे—जंगल ! दो औरतें ! कोई भी हों वे ? किन्तु अकेली वहाँ आईं कहाँ से और क्यों ? अवश्य कोई दुःखियारी ही होंगी। किसी यात्रा पर जा रही होतीं तो उनके साथ जरूरी था कि कोई और लोग भी होते। कुछ साज-सामान भी होता। मुनुआ कहता है कि बिलकुल अकेली हैं। साथ में कोई नहीं, कुछ नहीं। तब कोई दुःखियारी ही तो होंगी। जाने किस दुष्ट ने छोड़ दिया होगा उन्हें उस जंगल में ? कुछ समझ में आया नहीं। महादेव जी ही जानें। लेकिन महादेव जी के मन्दिर में वे मुनुआ को मिली हैं सुबह-सुबह तो उसका साफ मतलब यह है कि रात से ही वे वहाँ होंगी। इस घनघोर जंगल में रात में चलकर तो वे वहाँ पहुँच नहीं सकती थीं न ? कोई भी इस जंगल में रात में कैसे चल सकता है ? तो मतलब यह कि रात को वे मन्दिर में ही रहीं बेचारी। और तो फिर इसका मतलब यह है कि वे भूखी-प्यासी भी जरूर होंगी। प्यासी मान लो नहीं होंगी, पानी पी लिया होगा बावड़ी में तो भूखी तो जरूर होंगी कि नहीं ? सारी बात को मैंने समझ लिया लेकिन यह मुनुआ की माँ नहीं समझी.....

"अरे भागवान! जरा इधर तो आओ,"—वे बोले, "देखो, वे दो कोई दुःखियारी औरतें रात भर से उस सुनसान जंगल में, मन्दिर में पड़ी हैं तो क्या वे भूखी-प्यासी नहीं होंगी ? मान लिया कि प्यासी नहीं होगी, वहाँ बावड़ी है कि नहीं ?"

"है जी !"

"तो मान लिया कि प्यासी नहीं होंगी। ठीक है। लेकिन भूखी होगी कि नहीं ?"

"होंगी जी !"

"बस, कह दिया 'होंगी जी' और हिला दी गर्दन बैल की तरह। अरे भागवान ! भूखी होंगी तो क्या कुछ खाएँगी नहीं ?"

"खाएँगी जी !"

"बस, कह दिया 'खाएंगी जी' और हिला दी गर्दन....खैर, जाने दे, मेरे तो बोलने का तरीका ही कुछ ऐसा है, लेकिन खाएंगी क्या ! मेरा.... खैर, जाने दे...."

"अब मैं समझ गई जी। रोटियाँ अभी बनाई थीं मुनुआ के लिए। अपने लिए भी रखी हैं। मैं अभी लाई..... ।"

"खाली रोटियाँ खाएँगी क्या वे मुनुआ की रानियाँ ? दही-वही भी कुछ है कि नहीं ?"

'है जी, दही है, चटनी है। मक्खन भी रखे देती हूँ।"

"हाँ, अब तू समझी। वैसे है तू समझदार लेकिन बस समझ नहीं है कुछ तेरे में। चल, जल्दी कर। वो आ गया मुनुआ गाड़ी जोतकर। मैं जरा कुछ ढंग से बिछाने का इन्तजाम कर दूँ।"

गाड़ी दरवाजे पर लगी थी। भीतर अलगनी पर से उतार का बाबा ने एक गद्दा उसमें बिछा दिया। चादर-वादर के चक्कर में वे पड़े नहीं। पड़ते भी तो चक्कर ही चक्कर मिलता, चादर नहीं। मुनुआ की माँ ने रोटियों के बीच में मक्खन चटनी रखकर कपड़े की पोटली बना दी और एक कटोरे में दही ला दिया। मुनुआ कटोरा पोटली लेकर गाड़ी में भीतर बैठ गया। बाबा ने गाड़ी हाँकी।

बैलों को अधिकतर अभ्यास महेन्द्रपुर की लीक-लीक जाने का था सो वे उसी तरफ मुड़े तो बाबा ने उनकी दिशा जंगल की ओर मोड़ते हुए कहा—

"अरे बेटा पतरिया-गट्टा, पहले जरा महादेव जी के दर्शन करलो आज। तुम तो उनके नन्दी हो न ? फिर अरिहन्त भगवान ने चाहा तो महेन्द्रपुर भी चलेंगे"....।"

अपने मालिक की प्रेम भरी बातें सुनकर उमंग से भरे दोनों बैल तेजी से जंगल की दिशा में दौड़ पड़े।

मुनुआ की माँ दरवाजे पर खड़ी देख रही थी। बाबा का मन हुआ कि कह दें—देख तेरे से अधिक समझदार तो मेरे ये बैल ही हैं, किन्तु

अपनी भोली पत्नी के सरल मुख को देखकर वे केवल मुस्कुरा कर रह गये फिर कुछ ही दूर पहुँचते-पहुँचते गली के मोड़ पर मुड़ने से पूर्व उन्होंने पीछे देखकर जरा जोर से ही कहा—"फिकर मत करना, अभी आते हैं भला !"

गाड़ी के मोड़ पर मुड़ जाने पर वह भोला चेहरा भी द्वार के भीतर छिप गया।

बाबा ग्रामवासी थे। आयु अधिक नहीं, चालीस-पैंतालीस के होंगे पर सभी लोग उन्हें बाबा ही कहते थे। भगवान ने सन्तानें उन्हें कुछ देर से दी थीं। सादा जीवन और सरल मन था उनका, बालकों की ही तरह; किन्तु आयु ने अनुभव तो दिये ही थे।

मन्दिर तक पहुँचकर उन्होंने बैलों को पुचकार कर रोक लिया। उनकी पीठ पर प्यार से हाथ फेरा और नीचे उतर आए। मुनुआ हाथ में पोटली-कटोरा थामे पहले ही कूद पड़ा था। इधर-उधर चरती गायों ने शायद अपनी छठी इन्द्रिय से अपने स्वामी की उपस्थिति को जान लिया। एक बार सिर उठाकर उन्होंने बाबा की ओर अपनी बड़ी-बड़ी काली-काली आँखों से देखा, रँभाकर अपना हर्ष प्रकट किया और फिर सुख से चरने लगीं।

मुनुआ दौड़कर अंजना और वसन्ततिलका के पास पहुँचा और बोला—

"मेरे बाबा आ गए। मैंने कहा था न ?"

अंजना ने प्रेम से उसकी बांह थामकर उसे अपने पास ही बिठा लिया। बोली—"प्यारे बच्चे, तुम बहुत अच्छे हो।"

"अच्छे बच्चे, लो अपनी लाठी। कोई भालू भेड़िया तो आया ही नहीं।"—कहते और मुस्कुराते हुए वसन्ततिलका ने लाठी मुनुआ के हाथ में थमा दी और जोड़ा—"अपनी गायें गिन लेना मुन्ने, एक भी कम नहीं हुई है।"

हमने कहा था न कि बाबा भोलेनाथ तो थे किन्तु अनुभवी भी थे। उन्होंने अंजना और वसन्ततिलका को देखा और एक ही दृष्टि में वे जान गए कि हो न हो, एक तो कोई राजरानी है और दूसरी उसकी दासी या सहेली। अब वह राजरानी कैसे इस जंगल में मारी-मारी फिर रही है, यह अलग बात है। भगवान की लीला अपरम्पार है।

सहज रूप से राजरानी के लिए उनके हृदय में आदर भाव उमड़ आया और सम्मानजनक वाणी में उन्होंने अंजना को ही लक्ष्य करके कहा—

"मां जी ! मुनुआ ने बताया, आप यहाँ हैं। मैं तुरन्त चला आया।

चलिये, पधारिये। लेकिन मेरी एक प्रार्थना है····।" बाबा ने हाथ जोड़ दिये।

अंजना ने बाबा की सरल, विनीत भंगिमा को देखा, उनके हृदय की निष्कलुषता को समझा और कहा—

"बाबा ! एक प्रार्थना हमारी भी है।"

"प्रार्थना ! जिनदेव क्षमा करें, आप आज्ञा कीजिए।"

"नहीं बाबा ! आज्ञा नहीं, प्रार्थना ही। आप हमारे पिता समान हैं। हमारी आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे और मेरी इस सहेली को 'माँजी' न कहें। 'बेटी' ही कहें। और 'आप' नहीं, 'तुम' ही कहें।"

"ओह, आह, समझ गया। अच्छा अच्छा, आप·····अच्छा, बेटी ही सही। बड़े भाग्य हमारे कि हमें आप जैसी बेटियाँ मिलीं। अच्छा तो बेटी ! सबसे पहले मेरी प्रार्थना है कि तुम दोनों पहले कुछ खा-पी लो·····।"

"फिर प्रार्थना ?"—वसन्ततिलका ने मुस्कुराते हुए कहा।

"अरे भई, अब आदत तो आदत ही रहेगी न ? बड़े लोगों के साथ बात करते समय जैसे बोलना चाहिये, वैसी आदत पड़ी हुई है न ? पर अब ध्यान रखूंगा। छोड़ो इस चक्कर को। कैसा मुँह सूखा-सूखा सा हो रहा है तुम दोनों का। निकाल तो रे मुनुआ, रोटियाँ निकाल ले। लो, पहले तुम दोनों कुछ खा-पी लो। फिर सब बातें हो जायेंगी। कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं। जहाँ भी तुमको जाना है, वहाँ आराम से पहुँचा दूँगा।"

मुनुआ ने मोटी-मोटी रोटियाँ निकालकर एक-एक दोनों के हाथों में दे दी। दही का कटोरा बीच में रख दिया और कहा—"खाइये आप। चटनी बड़ी बढ़िया है।"

"अ·····चटनी में मिर्च तो तीखी लगेंगी तुम्हें बेटी !"—बाबा ने कहा, "आदत नहीं होगी तुम्हें, मैं जानता हूँ। लेकिन थोड़ा यह मक्खन है, इसमें लगा-लगाकर खा लेना। दही भी मीठा है। सब कुछ अपने घर का ही ही है। लेकिन मुनुआ रे, लोटा तो तू लाया ही नहीं ? वह कह रही थी कि मैं सब समझ गई जी····खाक समझी। अब·····खैर, बेटी, रोटियाँ खा लो और पानी·····।"

"बाबा ! आप तो व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। यह बावड़ी है न ? हम वहाँ पानी पी लेंगी। आप तो बैठिये।"—अंजना ने कहा।

"हाँ हाँ, बेटी ! खा लो, पी लो, मैं यहीं हूँ। पेट भर कर खाना भला !"

बाबा अपनी गायों के बीच टहलने लगे और सोचने लगे—हे जिनदेव ! हे जिनदेव ! !

मोटी-मोटी रोटियाँ अपने-अपने हाथों में लिए अंजना और वसन्त-तिलका ने एक-दूसरे की आँखों में झाँका—

क्या देखा उन्होंने एक-दूसरे की आँखों में ?
क्या सोचा ? क्या समझा ?
वीतराग भगवन्त ही जानें !
पाठक कल्पना करें, प्रेरणा लें ।

आदत न होने के कारण कठिनाई से ही, किन्तु बड़े प्रेमपूर्वक दोनों ने वे रोटियाँ खाईं । भूखे पेट को भोजन मिलने पर तृप्ति तो मिलती ही है; उन्हें भी तृप्ति मिली । किन्तु उस भोजन से मिली उनकी तृप्ति में कुछ विशेषता भी थी । बाबा और मुनुआ के निर्मल, निःस्वार्थ, सहज प्रेम का अमृत मिला था उन रोटियों में ।

जब वे लोग खा-पी चुकीं तब गाँव की तरफ चलने की तैयारी हुई; बाबा ने मुनुआ से कहा—

"मुनुआ रे, अब आज तू भी गायों को लेकर हमारे पीछे-पीछे जल्दी घर ही आ जा । वहीं और चारा-पानी दे देंगे । आज अपने घर के भाग जागे हैं । मेरी बेटियाँ आई हैं । तेरी दीदियाँ, एक नहीं दो दो । समझा ? जल्दी आ जाना भला ?"

"हाँ बाबा !"—मुनुआ के मन की बात हो गई । वह स्वयं ही यह प्रस्ताव अपने बाबा के सामने रखने वाला ही था—"मैं अभी आया बाबा ! आप उन्हें कहीं जाने मत देना ।"

"अरे कहीं नहीं जाने दूंगा भाई ! अब मैंने जो सोचना था सो सोच लिया है । आज के दिन मेरी बेटियाँ मेरे घर ही रहेंगी; कल की कल देखी जायगी·····।" बाबा यह कहते हुए गाड़ी पर जा बैठे । अंजना और वसन्ततिलका को उन्होंने पहले ही ठीक से बिठा दिया था । किन्तु बाबा की बात सुनकर वसन्ततिलका ने कहा—

"लेकिन बाबा, हमें तो महेन्द्रपुर जाना है·····।"

"वह तो जाना ही है । सो मैं कल तुम्हें पहुँचा ही दूंगा । एक तो आज अब घाम चढ़ आया है । दूसरे मुनुआ की माँ चाहे कुछ समझे कि न समझे पर उसके भी कोई दिल है कि नहीं ? बोलो ? वह आज तुम्हें कैसे

जाने देगी भला ? वह भी नहीं जाने देगी। मुनुआ भी नहीं जाने देगा। मैं भी नहीं जाने दूंगा। तब तुम कैसे जाओगी, यह बताओ तो ?"

इतना कहकर बाबा ने गाड़ी हाँक दी।

प्रेम की भाषा मूल-रूप से मौन की भाषा होती है। शब्दों से अधिक वह व्यवहार से बाँचने में आती है। बाबा के अब तक के सरल, निश्छल, प्रेममय व्यवहार से दोनों सखियों ने समझ लिया कि अब आज तो वे उन्हें आगे जाने नहीं देंगे। न सही। ऐसी जल्दी भी क्या है ? उनके इतने आत्मीयता भरे दिल को दुखाकर जाने का अर्थ भी क्या है ? और यह एक दिन जो इतना प्रेम, आत्मीयता एवं शान्ति से भरा मिला है, सो फिर कभी इस जीवन में जाने कब मिले ? कभी मिले भी कि नहीं ?

दोनों सखियों ने एक दूसरी की ओर देखा। मौन स्वीकृति हो गई। बाबा के इतने आग्रह-आत्मीयताभरे निर्णय के आगे सहज स्वीकार के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग था भी नहीं। वसन्ततिलका ने इतना ही कहा--

"अच्छा बाबा ! जैसी आपकी आज्ञा।"

बाबा ने प्रसन्न होकर बैलों को सरपट दौड़ा दिया। बोले—

"यह हुई न अच्छी, प्यारी बेटियों जैसी बात। सब भगवान की इच्छा है, और हमारा भाग्य !" □

छह

दूसरे दिन भिनसारे ही बाबा ने गाड़ी जोती और वे लोग महेन्द्रपुर की ओर चल पड़े। सुबह का तारा चमचम चमक रहा था। अंजना के हृदय में आशा-आशंका का खेल चल रहा था। वह एक दिन और एक रात उस ग्राम में बाबा के घर, उनके हार्दिक प्रेम की छाया में, शान्ति और सुख से गुजर गई थी। सहज, निःस्वार्थ स्नेह में सुख-शान्ति प्रदान करने की बड़ी शक्ति होती है। किन्तु अब आगे क्या होगा? यह विचार दोनों ही सहेलियों के मन में घुमड़ रहा था।

सघन वन प्रान्तर की रम्य वृक्षावलियों की शीतल छाया में कितना मार्ग कब कट गया, पता ही नहीं चला। कोई विशेष बातचीत किसी ने नहीं की। कभी-कभी वसन्ततिलका अंजना का मन बहलाए रखने के लिए किसी सुन्दर दृश्य की ओर उसका ध्यान आकर्षित कर देती थी। अथवा कोई प्यारा-सा मृगछौना या अन्य कोई वनजन्तु उसका ध्यान सहज ही अपनी ओर खींच लेता था। उस दृश्य को देखकर क्षणभर के लिए उसकी आँखों में प्रसन्नता की एक चमक आती थी और पुनः मौन का साम्राज्य छा जाता था।

सूरज जब बिल्कुल सिर पर आ गया, मध्यान्ह होने पर किसी निर्झरिणी के किनारे बैठकर उन लोगों ने कुछ विश्राम किया, कुछ भोजन कर लिया और यात्रा पुनः आरम्भ हो गई। सूर्यास्त से कुछ समय पूर्व तक महेन्द्रपुर के गगनचुम्बी धवल धामों के शिखर सूर्य की रश्मियों में दूर से ही चमकते हुए दिखाई देने लगे। क्षण भर के लिए अंजना उन्हें देखकर उल्लसित हुई, किंतु फिर अपनी उस विशेष परिस्थिति का विचार करते ही उसका समस्त उल्लास बुझ-सा गया।

बाबा को तो कुछ पता नहीं था। उन्होंने कुछ पूछा भी नहीं था। बेटियाँ आई इसी खुशी में वे, उनकी पत्नी तथा मुनुआ डूबे रहे थे।

साधारणतया ग्रामवासियों को बड़ी उत्सुकता होती है। ग्राम में यदि किसी के यहाँ भी कोई अतिथि आता है तो वह जैसे सारे गाँव का ही हो जाता है। इतनी आत्मीयता का वातावरण वहाँ होता है। किन्तु अंजना और वसन्ततिलका बाबा के घर में ही बनी रही थीं। बाबा ने समझ लिया था कि किसी भी कारण से वे लोग अपना परिचय देना नहीं चाहतीं, बढ़ाना नहीं चाहतीं। अतः जिज्ञासा करने वालों को उन्होंने जो मन में आया वही कहकर टाल दिया था।

जब महेन्द्रपुर के कोट-कंगूरे तथा शिखर-पताकाएँ दीख पड़े तब बाबा ने कहा—

"बेटी ! लो, यह महेन्द्रपुर आ गया। अभी एक घड़ी से भी कम में पहुँच जायेंगे। लेकिन अब यह तो बताओ कि कहां चलना है ? किसके घर ?"

वे सारे स्थान, वहाँ के सारे मार्ग दोनों सहेलियों के खूब देखे-भाले हुए थे। अंजना ने संकेत किया और उसे समझकर वसन्ततिलका ने बाबा के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—

"बाबा! सूर्यास्त होने वाला है। आपको गाँव लौटनेमें बहुत देर हो जायगी। हम दोनों बेटियों ने आपको बहुत हैरान कर लिया है। अब और अधिक नहीं करना चाहतीं। आप हमें अब यहीं उतार दीजिये····।"

"ऐसा कैसे हो सकता है बेटी ? इतनी दूर आ गए हैं तो क्या अब जरा सा और चलकर तुम्हें तुम्हारे घर तक नहीं पहुँचाऊँगा ? तुम भी कैसी बातें करती हो ?"—बाबा ने बैलों को और तेज कर दिया।

"लेकिन बाबा ! अपको बहुत देर हो जायगी····।"

"हो जाने दो। मुझे कौन खाए जाता है ? सारी जिन्दगी हो गई मुझे इस मार्ग से रात-विरात आते-जाते। आँख बन्द करके चलता हूँ तो भी मेरे पतरिया और गट्टा मुझे मजे से अपने घर पहुँचा देते हैं।" कहकर बाबा ने बड़े प्यार से अपने दोनों बैलों को एक बार सहला दिया, जैसे अपने बेटों के शरीर पर ही प्रेम से हाथ फेर रहे हों।

अब वसन्ततिलका ने कहा—

"बाबा ! आपका यह प्रेम हम दोनों बेटियाँ जीवन भर नहीं भूल पाएंगी। सच कहती हूँ। किन्तु बात यह है कि अब तो हमारा घर आ गया है न? इतनी दूर तक तो हम दोनों बचपन में जाने कितनी बार खेलते-खेलते

चली आती थीं। यहाँ के सब स्थानों से, सब मार्गों से हम खूब परिचित हैं। और बहुत दिन बाद घर लौटकर आई हैं न, अतः हमारी इच्छा है कि जरा घूमते-टहलते, पुरानी स्मृतियों का आनद लेते हुए ही घर पहुँचे।"

"सो कल करती रहना। घूम लेना, फिर लेना। अभी थक जाओगी। बताओ, किसके यहाँ चलना है ? कौन से रास्ते से चलूं ?"

"एक बात और भी है बाबा ! इस बार हमने सोचा है कि घर के लोगों के साथ जरा आँखमिचौली खेली जाय। हम लोग अचानक और चुपचाप अपने घर में घुसकर सब लोगों को आश्चर्य में डाल देंगी तो कितना मजा आएगा ? चुपचाप जाकर किसी की आँखें बंद करके पूछेंगी कि बताओ कौन हैं, तो कितना आनन्द आएगा न बाबा ? अतः आप यह जो सामने ही आमवाटिका आ रही है न, वहीं हमें उतार दीजिएगा। यहाँ से तो नगर अब और भी समीप है। आप भी थोड़ा विश्राम वहाँ करके लौट जाइएगा। ठीक रहेगा न ?"

बाबा निराश हो गए। सोच लिया उन्होंने कि लड़कियाँ मानेंगी नहीं। बोले—

"तो फिर जैसी तुम्हारी इच्छा, बेटी ! घर तक पहुँचा आ सकता तो तसल्ली रहती।"

"घर आ ही तो गया बाबा! आप चिन्ता न कीजिए। हम लोग फिर कभी जब इस मार्ग से निकलेंगी तो आप से मिले बिना जाएंगी नहीं, यह अच्छी तरह समझ लीजिएगा और हमें भूल मत जाइयेगा।"

वाटिका में बाबा ने गाड़ी रोकली। बैलों को विश्राम के लिए खोल-कर छोड़ दिया। सूर्यास्त में अब भी कुछ विलम्ब था। कुछ देर बैठ लेने के बाद वसन्ततिलका ने बाबा के चरण छूने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा—

"बाबा ! आशीर्वाद दीजिए। अब हम चलती हैं।"

अंजना ने भी उसका अनुसरण करना चाहा। किन्तु बाबा ने हाथ बढ़ाकर उन्हें रोक दिया और एक साथ दोनों के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—

"तुम दोनों सदा सुखी रहो बेटी ! एक दिन तुम मुझ गरीब के यहाँ रह लीं, मेरा घर पवित्र हो गया।"

इतना कहते-कहते बाबा की आँखों में आँसू भर आए। देखकर दोनों सहेलियों का हृदय भी उमड़ आया। बड़ी कठिनाई से वे इतना ही कह सकीं—

"अच्छा बाबा! अब हम चलती हैं। प्यारे मुनुआ को हमारी तरफ से से खूब प्यार करिएगा और माँजी को हमारा प्रणाम कहिएगा। निकि, छुटकू और टिमकू को भी खूब प्यार करिएगा।"

बाबा अपनी आँखें पोंछते खड़े देखते भर रह गए। अंजना और वसन्ततिलका भी अपनी-अपनी आँखें पोंछते मुड़कर आगे बढ़ गईं—किधर? उधर; जिधर सूरज डूब रहा था।

× × × ×

लौटते में बाबा को बैलों को हाँकने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वे घर का मार्ग खूब पहचानते थे। घर लौटने के उत्साह में वे खुशी-खुशी तेजी से चल पड़े। पशु थे तो क्या, जहाँ उन्हें प्रेम मिलता था, उस घर को वे भली-भाँति पहचानते थे।

बाबा ने बैलों की रस्सियाँ ढीली छोड़कर गाड़ी में एक तरफ अटका दी थीं और आराम से गाड़ी के अन्दर ही जाकर अधलेटे-से हो गए थे। मन भारी था। तलब भी आ रही थी। सुबह से उन्होंने अपनी बेटियों के सामने हुक्का नहीं पिया था, सोचा था कि उसके धुँए से उन्हें तकलीफ होगी। अब उन्होंने गद्दे के नीचे से हुक्का-तमाखू निकाले और उसे तैयार कर, सुलगाकर, गुड़गुड़ाते हुए खोए-खोए से सोचने लगे—

कैसा विचित्र है संसार! ये दोनों राजरानियों-सी भली लड़कियाँ कैसे उधर आ निकलीं? अपने बारे में वे कुछ बताना चाहती नहीं थीं। इसलिए मैंने भी कुछ पूछा नहीं। उनका दिल दुखाने से क्या लाभ? किन्तु कोई न कोई संकट तो उन पर अवश्य आया है। कहती थी कि वे घर के लोगों को आश्चर्य में डालकर आनन्द लेंगीं। झूठ तो वे बोल ही नहीं सकतीं। इतनी पवित्र हैं दोनों। फिर जाने क्या बात है कि यहीं से मुझे विदा कर दिया? कुछ समझ में नहीं आता, वे ही जानें। मेरी तो जिनदेव से यही प्रार्थना है कि उन दोनों पर कभी कोई संकट न आये। मैं तो अपढ़ गँवार हूँ। लेकिन इतना तो साफ दीखता है कि अत्यन्त कुलीन घराने की लड़कियाँ हैं दोनों। कैसी मीठी वाणी? कैसा मधुर व्यवहार? मुझे तो शान्ति और पवित्रता की मूरत-सी दीखीं दोनों ही। खासकर के वह अंजना तो साक्षात् देवी ही जैसे धरती पर उतर आई हो। हे भगवान्! हे वीतराग भगवन्त! ऐसी देवी क्या सचमुच किसी संकट में पड़ गई है? ऐसा न हो भगवन्! उसके सब संकटों को हरण करना प्रभो!

ऐसे ही विचारों में खोए बाबा अपने गाँव की ओर बढ़ते गए। यानी उनके सधे हुए बैल उन्हें अपने घर की ओर ले गए। स्वयं उन्हें तो मालूम ही नहीं पड़ा कि कब अँधेरा हुआ, कब रात गहराई और कब घर आया।

उधर अंजना और वसन्ततिलका नगर की ओर धीमी गति से ही चलीं। जिस परिस्थिति में वे पड़ गई थीं उनमें अंजना नहीं चाहती थी कि उसकी अपने माता-पिता के घर लौट आने की बात नगर में प्रचारित हो और लोग विभिन्न प्रकार की बातें करें। वह शीलवती राजकन्या थी। ससुराल में उसके साथ बड़ा कठोर व्यवहार हुआ था। अन्याय हुआ था। उसे भीषण अपमान झेलना पड़ा था। सब कुछ अकारण ही हुआ था। उसका कोई दोष नहीं था। किन्तु जो हुआ, वह हुआ और उसने सब कुछ सहन किया था। सहते चले जाने का उसका दृढ़ निश्चय था। कौन जाने ससुराल में मिले इस तिरस्कार और अपमान के बाद उसके माता-पिता का व्यवहार कैसा हो? वे उसे शरण दें या नहीं?

गोधूलि बेला के विदा होते-होते, साँझ और रात्रि की मिलन बेला में अंजना अपनी सखी के साथ राजद्वार में प्रविष्ट हुई, धड़कते हृदय के साथ। राजमहल तो उसका अपना ही था, अतः उसे ठीक मार्ग से बिना रोक-टोक और कठिनाई के अपने माता-पिता के पास तक पहुँच जाने में कोई असुविधा नहीं हुई। जिन-जिन द्वारपालों या दासियों ने उन्हें देखा वे एकाएक अपनी राजकुमारी को ऐसी फटेहाल स्थिति में बिना किसी पूर्व सूचना के महेन्द्रपुर के राजमहल में देखकर विस्मय में डूब गए और उसे देखते ही रह गए।

ठगे-से देखते द्वारपालों तथा दासियों को पीछे छोड़ती अंजना आगे बढ़ती गई····।

उस समय जिस कक्ष में उसके माता-पिता राजा महेन्द्र तथा रानी हृदयसुन्दरी थे, उसकी द्वाररक्षिका ने जब राजकुमारी को देखा, पहिचाना तो वह भी विस्मयविमूढ़ ही रह गई। उसका कर्त्तव्य था कि वह किसी भी व्यक्ति को बिना आज्ञा के भीतर प्रविष्ट न होने दे। कोई भी व्यक्ति हो, उसे द्वार पर ही रोककर भीतर जाकर महाराज को सूचित करे, आज्ञा प्राप्त करे, फिर तदनुसार ही करे। किन्तु अपनी प्रिय राजकुमारी अंजना को उस हालत में देखकर वह बेचारी भी विमूढ़ ही रह गई।

अंजना चुपचाप द्वार में प्रविष्ट होकर अपने माता-पिता के समक्ष सिर झुकाकर खड़ी हो गई।

और कोई समय होता और अंजना आई होती तो वह दौड़कर अपने माता-पिता के गले से झूल जाती। राजा महेन्द्र और रानी हृदय-सुन्दरी भी उल्लास से आगे बढ़कर उसे अपनी छाती से चिपटा लेते। ऐसी ही लाड़ली, इतनी ही गुणवती थी उनकी बेटी अंजना.....

किन्तु आज ?

आज सब कुछ उलट गया था।

प्रेम ने तिस्कार का स्थान ले लिया था।

उल्लास-उमंग को आशंका ने कुचल दिया था।

प्रकाश पर अंधकार की विजय हुई थी।

सत्य को सन्देह ने ग्रस लिया था।

और, इसके परिणाम स्वरूप—

अपने पराए हो गये थे।

—सब कुछ उलट गया था।

लाड़ली, फूलों-पली, हाथों-हाथ खेली, माँ-बाप की आँखों में तारिका सी चमकती रही प्यारी बेटी अंजना सिर झुकाए मौन खड़ी थी और उसके वे ही मां-बाप दूर बैठे उसे तिरस्कारपूर्ण नेत्रों से देख रहे थे।

उस छाती फाड़ देने वाले मौन को अंजना ने, उस निरपराध कोमल राजबाला ने, कैसे सहा होगा !

कैसे सहा होगा अपने ही माता-पिता के हृदय में अपने प्रति अविश्वास की उस भावना को अंजनाकुमारी ने ?

कोई कह नहीं सकता।

न कोई कह सकता है और न कोई समझ सकता है।

केवलज्ञानी वीतराग भगवतों के अतिरिक्त इस समग्र सृष्टि में केवल अंजनाकुमारी ने ही स्वयं भोगकर जाना था उस मर्मान्तिक पीड़ा को। उस पीड़ा के कालकूट तीव्र विष को उस बेचारी निरपराध, निर्दोष, निष्कलंक देवी ने अकेली और चुपचाप ही पिया था।

वह तिरस्कारपूर्ण मौन जब असह्य हो गया तब आँखों से आँसुओं की धारा बहाते हुए अंजना ने पुकार लगाई—"माँ, माँ-पिताजी ! मैं निर्दोष हूँ.....।

मां का मन हुआ कि वह दौड़कर अपनी बेटी को छाती से चिपटा ले।

पिता का हृदय हिल गया और वे अनजाने ही उठ खड़े हुए।

—किन्तु वे जहाँ खड़े थे वहीं खड़े रह गए।

एक अदृश्य, कठोर लौह-शृंखला ने मानों उनके बढ़ते हुए कदमों को सहसा जकड़ लिया था।

जान सकते हैं, अनुमान कर सकते हैं प्रिय पाठक कि वह शृंखला कौन सी थी?

वह शृंखला थी झूठी मर्यादा की, जिसने अनादिकाल से असंख्य निर्दोष अबलाओं का जीवन ही विनष्ट कर डाला है। वह शृंखला थी उस लोकलाज की, जिसने सत्यासत्य के निर्णय के बिना ही अनगिन निरपराध नारियों के जीवन की बलि ली है।

ससुराल वालों ने जिसे तिरस्कृत करके निकाल दिया उस नारी को यदि उसके माता-पिता शरण देंगे तो समाज क्या कहेगा? दोष है या नहीं, किसी ने कोई अपराध किया है या नहीं, यह विचार करने का अवकाश ही नहीं। बस, केवल यही विचार कि समाज क्या कहेगा? इस असंगत सामाजिक मर्यादा के विचार ने कितना अन्याय, कितना अत्याचार किया है अबोध अबलाओं पर? कहीं कोई हिसाब नहीं है इसका। शील की पवित्र प्रतिमूर्ति अंजना को भी सहना ही पड़ा था यह अत्याचार।

राजा महेन्द्र को सूचना मिल चुकी थी कि उनकी प्यारी बेटी अंजना को दुश्चरित्र होने का लांछन लगाकर आदित्यपुर से निकाल दिया गया है।

खून अपने खून को पहचानता है।

राजा महेन्द्र भी अपने अंतरतम में जानते थे कि उनकी बेटी अंजना त्रिकाल में भी अपने उज्ज्वल चरित्र से तिलमात्र भी डिग नहीं सकती। सूर्य का उदय होना रुक सकता है। मेरु पर्वत अपने स्थान से हिल सकता है। कुछ भी असंभव संभव हो सकता है, किन्तु अंजना चरित्रभ्रष्ट नहीं हो सकती, यह वे जानते थे।

किन्तु फिर भी वे विवश थे। निकम्मे, रूढ़ सामाजिक संस्कारों ने उन्हें जकड़कर रख दिया था।

अपने माता-पिता को इस प्रकार मौन, स्थिर देखकर अंजना का हृदय फट गया। एक बार किसी तरह फिर उसके कंठ से निकला—"मैं

निर्दोष हूँ पिताजी..... ।"—और इतना कहकर वह कटे वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर ढल पड़ने को हुई कि द्वार पर ही ठहर गई वसन्ततिलका ने तेजी से आगे बढ़कर उसे अपनी बाँहों में थाम लिया।

इतने बड़े संसार में निर्दोष, निराधार अंजना का एक मात्र सहारा—उसकी सखी वसन्ततिलका।

अंजना को सम्हालते हुए वसन्ततिलका ने कहा—

"महाराज ! महारानी जी ! मैं साक्षी हूँ अंजना के गले की माला में कुमार पवनंजय की मुद्रिका साक्षी है—ये सूर्य और चन्द्र साक्षी हैं महाराज, आपकी बेटी निर्दोष है..... ।"

सामाजिक मर्यादा और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाले संस्कारों की जकड़ में पड़े महाराज महेन्द्र कुछ कह सकें इसके पूर्व ही उस विशाल कक्ष के मुख्य द्वार से महामंत्री तथा एक अन्य द्वार से राजकुमार अरिंदम ने प्रवेश किया। सारी घटना से वे भी परिचित थे तथा अंजना के महेन्द्रपुर में पहुँच जाने की सूचना भी उन्हें अभी-अभी मिल गई थी।

राजकुमार अरिंदम ने अपनी बहन की ओर देखा तथा किसी कोमल लतिका को अपने पैरों से कुचलते हुए-से कठोर शब्दों में बोला—

"कौनसा मुँह लेकर आई हो यहाँ तुम अंजना? अपने मुख पर कालिख पुतवाकर अब कैसे साहस हुआ तुम्हारा यहाँ आने का ? क्या और कोई कसर रह गई है जिसे पूरा करने आई हो ? अरे, क्या तुम कहीं डूबकर भी नहीं मर सकती थीं ?"

"अरिंदम ! तुम चुप रहो। जो कुछ कहना है, हम ही कहेंगे।"—महाराज महेन्द्र ने कहा—"अंजना ! तुम्हारे लिए अब इस घर के द्वार बन्द हो चुके हैं।"

"किन्तु महाराज ! मेरी एक प्रार्थना तो सुनिये,"—महामंत्री ने हाथ जोड़कर कहा—"अंजना बेटी पर उसके ससुराल वालों ने आरोप लगाया है यह ठीक है, किन्तु वह आरोप यदि झूठा सिद्ध होतो यह कितना बड़ा अन्याय हो जायगा ?"

"महामंत्री जी ! हम विवश हैं। विवाह के पश्चात् लड़की का स्थान अपनी ससुराल में ही होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।"—महाराज ने उत्तर दिया।

"किन्तु प्रभो ! तनिक विचार तो कीजिए ! आपकी प्यारी दुलारी, लाड़ली बेटी अंजना फूलों जैसी कोमल है....?"

"कोमल होगी, किन्तु कलंकिनी भी है उसका क्या ?"—राजकुमार अरिंदम ने विष में बुझा एक और तीर छोड़ा।

महामंत्री का हृदय चिर-सा गया। उन्होंने कहा—

"राजकुमार ! आप युवक हैं, हम बूढ़े ! एक बार हमारी बूढ़ी आँखों से भी देखने का धैर्य धारण कीजिये। ये बूढ़ी आँखें जिस अंजना को देख रही हैं उस अंजना में पाप की छाया कहीं दिखाई नहीं दे रही है।"

"यह आपका मोह होगा महामंत्री जी!"—अरिंदम ने कहा—"हमारे सामने जो यथार्थ है वह यह कि इसे चरित्रहीनता के आरोप में ससुराल से निष्कासित किया गया है। अब इसे इस घर में कैसे रखा जा सकता है ?"

"क्षमा करें राजकुमार ! उतावलेपन में कोई निर्णय नहीं लेना चाहिये....।"

बेचारे बूढ़े महामंत्री अपनी आँखों के सामने हो रहे अन्याय को रोकने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु उनका वश चल नहीं पाया। राजा महेन्द्र ने कहा—

"महामंत्री जी ! इस विषय में अब किसी चर्चा अथवा विचार के लिए अवकाश नहीं है। हम अपना निर्णय दे चुके हैं। राजकुमार द्वारा द्वारा कहे गए शब्द कटु अवश्य हैं, अच्छा होता वे न कहे जाते, किन्तु स्थिति तो यही है कि अंजना के लिए अब इस घर में कोई स्थान नहीं है।"

"महाराज ! बड़ा अन्याय हो जायगा। कृपया विचार कीजिए। कम से कम राजकुमार पवनंजय के युद्धभूमि से लौटने तक तो प्रतीक्षा की ही जानी चाहिए।"—महामंत्री ने एक और प्रयत्न किया।

"वह प्रतीक्षा यदि की जानी थी तो आदित्यपुर में की जानी चाहिए थी महामंत्री जी !' —महाराज ने कहा।

बूढ़े महामंत्री ने छलछलाई आँखों से अंजना की ओर देखा। उनके चेहरे पर निराशा, दुःख और करुणा की गहरी, गंभीर काली छाया घिर आई थी। कुछ क्षण वे स्तब्ध से रहे। फिर सोचने लगे कि अब क्या जाय ? महाराज अपना निर्णय बदल सकें इसकी कोई संभावना अब उन्हें दिखाई नहीं दी। सिर झुकाए, हाथों को मलते हुए वे कुछ क्षण विचारों में डूबे रहे। उसी समय महाराज महेन्द्र ने फिर कहा—

"महामंत्री जी ! आप वयोवृद्ध हैं। हम आपका आदर करते हैं। किन्तु जैसा कि हम कह चुके, हम विवश हैं। आपने हमारा निर्णय सुन लिया न ? अब आप अविलम्ब अंजना को महेन्द्रपुर की सीमा से बाहर छोड़ दिये जाने की व्यवस्था कीजिए।"

इतना कहकर महाराज अपनी पीठ फेरकर वहां से चले जाने को उद्यत हुए ही थे कि महामंत्री मन ही मन किसी निश्चय पर पहुँचकर आगे बढ़े। उन्होंने अपनी पगड़ी अपने सिर से उतारी, दोनों हाथों में उसे लिए वे और आगे बढ़कर महाराज के समीप तक पहुँचे, पगड़ी महाराज के चरणों में रखकर उन्होंने कमर में बँधी अपनी तलवार भी खोली और उसे भी महाराज के चरणों में रखते हुए कहा—

"प्रभो ! अन्नदाता ! स्वामी ! पीढ़ी-दर-पीढ़ी से मेरे पूर्वजों ने तथा तथा मैंने आपका नमक खाया है और राज्य की यथाशक्ति सेवा की है। प्रतीत होता है कि आज वह सम्बन्ध समाप्त हो गया। आपका आदेश मैंने सुन लिया है और उसका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है। आदेश का पालन होगा। किन्तु महाराज ! मेरे लिए आपका यह अन्तिम आदेश··· है।"

"अर्थात् ?"

"यह पगड़ी और यह तलवार आपके श्री-चरणों में रख चुका हूँ, प्रभो !"

"तो क्या आप हमें छोड़कर जाना चाहते हैं ?"

"नहीं अन्नदाता ! आप ही हमें ठुकरा रहे हैं ?"

"हमने कब कहा कि आप सेवामुक्त किए जाते हैं ?"

"महाराज ! अंजना आपकी बेटी है। किन्तु वह मेरी गोद में खेली है। मैंने उसे शिक्षा दी है। क्षमा करें, वह इस बूढ़े की भी बेटी है। अपनी निरपराध, निर्दोष, निष्कलंक बेटी को मैं इस तरह निराधार नहीं छोड़ सकता।"—कहते-कहते बूढ़े मंत्री की आंखों से गरम-गरम आँसू ढुलक पड़े।

महारानी अब तक जी कड़ा किये मौन ही रहकर सब कुछ देख-सुन रही थीं। सामाजिक मर्यादा से वे भी बँधी हुई थीं, किन्तु फिर भी उस समय माँ की ममता एक बार उफन पड़ने को हुई। वे कहने लगीं—

"महाराज !....."

किन्तु 'महाराज' ने किसी की भी नहीं सुनी, अथवा वे सुनना नहीं चाहते थे। महारानी क्या कहना चाहती हैं इसका अनुमान करते हुए उन्होंने उनकी बात बीच में ही काटते हुए कहा—

"महामंत्री जी! खेद सहित आपका त्यागपत्र स्वीकार किया जाता है। हमारे आदेश का पालन हो।"

इतना कहकर महाराज महेन्द्र उस कक्ष से बाहर निकल गये। महारानी हृदयसुन्दरी ने एक बार अंजना की ओर फिर से देखा। लगा कि जैसे वे आगे बढ़कर उसे अभी अपनी छाती से लगा लेंगी। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। अपनी दृष्टि से फेरकर वे भी महाराज पीछे-पीछे चली गईं।

अंजना के भाग्य का निर्णय हो चुका था।

महामंत्री ने अंजना के पास आकर प्रेम से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—

"बेटी! चिन्ता न करो। समय बलवान है। साहस रखो। आओ मेरे साथ। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक तुम्हें चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? आओ बेटी!"

अंजना अपना सिर महामंत्री के वक्ष में छिपाकर फूट-फूटकर रो पड़ी। महामंत्री ने उसे शान्त करने का प्रयत्न करते हुए कहा—

"साँच को आँच हो सकती है क्या बेटी? तुम तो विवेकवान हो। विचार करो। जैसा कि मैंने कहा, समय की बलिहारी है और समय सदैव एक जैसा ही नहीं रहता। धैर्य धारण करके जीवन में आने वाली प्रत्येक स्थिति का सामना करना चाहिये। इस बूढ़े की बात को सुनो और विश्वास रखो कि तुम जैसी सती-साध्वी नारी पर लगाया गया यह कलंक तुम्हारे नहीं, इस समाज के माथे पर ही चिरकाल तक लगा रहेगा। तुम क्यों चिन्ता करती हो? आओ बेटी, अब मेरे साथ चलो।"

अपने माता-पिता के द्वारा भी ठुकरा दिये जाने पर अंजना का दुःखी होना स्वाभाविक ही था। किन्तु महामंत्री के व्यवहार और विवेक-युक्त वचनों ने उसकी पवित्र आत्मा की सोई हुई शक्ति को जाग्रत कर दिया।

अपने आँसू पोंछकर वह चुपचाप महामंत्री के साथ चल पड़ी। अब उसके चरणों की गति में शिथिलता या अस्थिरता नहीं थी; दृढ़ता थी। मानों वे दृढ़ चरण अपनी अबोली, अशब्द भाषा में कह रहे हों—असत्य आरोपों, आपत्तियों का कितना भी प्रबल प्रभंजन चले, पवित्र एवं निष्कलुष आत्मा की शक्ति से प्रकाशित यह उज्ज्वल दीपशिखा बुझेगी नहीं.....

□

सात

अपने आवास पर आकर महामंत्री ने अपना राजवेश भी उतार दिया तथा मुनियों जैसे सादे वस्त्रोपवस्त्र धारण कर लिये। जब वे अपने परिवार से भी विदा लेने लगे तब अंजना ने कहा—

"पूज्यवर ! यह आप क्या कर रहे हैं ? आप को तो शीघ्र लौट आना है।"

"अब कहाँ लौटकर आना बेटी ? महेन्द्रपुर तथा इस संसार से ही मेरा सम्बन्ध समाप्त हो गया। अब तो जहाँ तुम, वहीं यह बूढ़ा भी; जितने भी समय का आयुष्य शेष हो। इस समय रात्रि का अन्धकार घिर आया है, यह ठीक है, किन्तु सत्य का सूर्य फिर से प्रकाशित होगा यह मेरा विश्वास है। तब तुम सम्मान साहित वापस लौटोगी, यह भी असंदिग्ध है। लेकिन मुझे तो अब कहीं लौटना नहीं है मेरा समय तो अब वीतराग भगवन्त की शरण में जाने का आ गया।"

"ऐसा न कहें, पूज्यपाद ! यह वसन्ततिलका तो मुझे छोड़ती ही नहीं। किन्तु आप इस अवस्था में हमारे साथ कहां-कहां भटकेंगे ? नहीं-नहीं पूज्यवर ! आप हमें महेन्द्रपुर की सीमा पर छोड़कर कृपया लौट आइयेगा।" —अंजना ने कहा !

"वाह बेटी ! वसन्ततिलका तो तुम्हें छोड़ती नहीं और मैं तुम्हें छोड़ दूंगा ? क्या मैं वसन्ततिलका से गया बीता हूँ ? वह तुम्हारी सखी है। सच्चा स्नेह उसके हृदय में है। वह तुम्हें छोड़ नहीं सकती। और मैं ? क्या तुम मेरी बेटी नही हो ?"

"नहीं नहीं, पूज्यपाद ! आप तो मेरे पिता से भी बढ़कर है। किन्तु....."

"न किन्तु, न परन्तु ! चलो अब, समय हो गया।....श्वेतांक ! रथ प्रस्तुत है ?"

सारथी श्वेतांक ने समीप आकर हाथ जोड़कर उत्तर दिया—

"हां स्वामी, रथ भी प्रस्तुत है और मैं भी।"

"क्या मतलब ?"

"स्वामी ! जहाँ आप, वहाँ मैं। घर पर सब कह आया हूँ.....।"

"बकवास बन्द करो। तुम पागल हो। इस आयु में तुम्हारा अपने परिवार के प्रति जो कर्त्तव्य है उसका पालन करो। अरे मायण, इधर आओ।"

दूर खड़े सेवकों में से मायण समीप आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। महामंत्री ने उससे कहा—

"इस पगले श्वेतांक के घर जाकर सूचित करो कि वे लोग चिंता न करें। हमें छोड़कर वह संध्या तक घर लौट आएगा।"

"किन्तु स्वामी ! मैं आपको छोडकर.....।"—श्वेतांक ने कहना चाहा, किन्तु महामंत्री ने उसे वाक्य पूरा नहीं करने दिया, कहा—

"कोई किसी को नहीं छोड़ता। कोई किसी के साथ नहीं जाता श्वेताक ! किसी दिन इस बात को समझोगे। चलो, बहुत हुआ। आओ बेटी !"

महामंत्री, अंजना तथा वसन्ततिलका के रथारूढ़ हो जाने पर सारथी श्वेतांक भी रथ पर अपने स्थान पर आ गया। वह बहुत उदास था।

वैसे उस समय वहाँ उदास कौन नहीं था ?

महामंत्री के स्वजन उन्हें टुकर-टुकर देख रहे थे और उनकी आँखों से आंसू झर रहे थे।

सेवक-सेविकाएँ उदास थीं और उनकी भी आँखें छलक रही थीं।

वह समस्त आवास उदास था। हवा उदास थी। आकाश उदास था। चारों ओर छाई हुई उदासी को चीरता हुआ-सा रथ जनपथ पर तीव्र गति से चल पड़ा।

× × × ×

धीर व्यक्ति परमात्मा की असीम अनुकम्पा पर दृढ़ विश्वास रखते हैं तथा बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी घबराते नहीं। अंजना के शीष पर भी विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा था, वह किसी अन्य को कोई दोष न देते हुए, उसे अपने ही पूर्वकृत पापकर्मों का उदय मानते हुए धैर्य के साथ पुनः पुण्योदय होने की प्रतीक्षा में उस आपत्तिकाल को व्यतीत कर रही थी।

वसन्ततिलका तथा अब महामंत्री के सहयोग से उसे कुछ आश्वासन भी रहता था। रह-रहकर उसे यदि पीड़ा सालती थी तो यही कि उसके चरित्र पर निराधार लांछन लगाया गया था तथा उसके गुरुजन ने उसे निरपराध होते हुए भी इस प्रकार तिरस्कृत एवं दण्डित किया था।

एक-एक कर ग्राम-नगर तथा वन-पर्वतों को पार करते हुए वे लोग किसी समुचित आश्रय-स्थल की खोज में इधर से उधर भटकते रहे। सारथी श्वेतांक को रथ सहित महामंत्री ने महेन्द्रपुर की सीमा पर से ही लौटा दिया था। वह बड़ी मुश्किल से माना था। अपने वृद्ध स्वामी से उस युवक को बेहद प्यार, असीम लगाव था। किसी तरह वह स्वामिभक्त अपने स्वामी को छोड़ना नहीं चाहता था। किन्तु अन्ततः उसे स्वामी का स्नेह भरा आदेश स्वीकार्य कर भारी मन से लौटना ही पड़ा था।

भटकते-भटकते एक दिन वे किसी पर्वत की तलहटी में से गुजर रहे थे। अंजना और वसन्तिलका दोनों बहुत अधिक थक चुकी थीं। बूढ़े महामंत्री थकान का अनुभव तो कर ही रहे थे। उसी समय उस पर्वत पर अंजना को एक गुफा दिखाई दी। थकी-हारी अंजना ने प्रस्ताव रखा—

"स्थान शान्त, एवं रमणीय है। यह गुफा भी अच्छी दिखाई देती है। मुझे बहुत अधिक थकान का अनुभव हो रहा है। कुछ समय इसी गुफा में विश्राम लिया जाय तो कैसा रहे?"

स्थान सुरक्षित था। वसन्ततिलका ने अनुमोदन किया, और वे लोग उस गुफा के द्वार पर पहुँचकर भीतर प्रविष्ट हुए।

दो-चार क्षण भीतर के अंधकार में उन्हें कुछ ठीक से दिखाई नहीं दिया। किन्तु उसके बाद उन्हें जो कुछ दिखाई दिया उसे देखकर वे धन्य हो गये। उनकी सारी थकान क्षण मात्र में काफूर हो गई। अपनी कठिन संकटमय परिस्थिति को वे एकबारगी भूल ही गए। उन्होंने देखा—

ध्यानमग्न एक मुनिवर वहाँ विराज रहे हैं। उनके मुख मण्डल पर अलौकिक शान्ति विराज रही है। प्रभा की किरणें उनकी तपस्या से कृश समस्त देह से विकीर्ण हो रही हैं.....

मुनिवर को ध्यानमग्न पाकर उन लोगों ने मौन रहकर उनकी वन्दना की और शान्ति से गुफा-द्वार के समीप ही बैठ गए। मुनिवर की प्रशान्त, पवित्र मुख मुद्रा की ओर एकटक देखते हुए अंजना को अपने मन में ऐसा आभास हुआ मानों उसके सारे दुःख-दर्द क्षणमात्र में ही दूर हो गए

हों। बड़ी शान्ति मिली उसे। उसे ऐसा भी प्रतीत हुआ जैसे उसके पुण्योदय की बेला अब बहुत अधिक दूर नहीं है।

कुछ समय पश्चात् मुनिवर का ध्यान सम्पूर्ण हुआ। उन्होंने अपने प्रशान्त करुणामय नेत्र खोले। यह देखकर उन तीनों ने खड़े होकर एक बार पुनः पूज्य मुनिवर को हाथ जोड़कर सविनय वन्दन किया। मुनिवर ने उन्हें 'धर्मलाभ' दिया।

तब वसन्ततिलका ने हाथ जोड़कर कहा—"पूज्य मुनिवर ! यदि कोई बाधा न हो तो कृपया बताएँ कि मेरी इस सखी को निष्कलंक होने पर भी कष्ट क्यों भोगना पड़ रहा है ?"

ज्ञानी मुनि अमितगति ने बताया कि पूर्वजन्म के किन्हीं दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप ही उसे इस स्थिति में आना पड़ा है।

तब वसन्ततिलका ने कहा—"मुनिवर आज्ञा हो तो एक प्रश्न और करना चाहती हूँ।"

मुनिवर की मौन स्वीकृति मिली। वसन्ततिलका ने पूछा "मुनिवर ! आप त्रिकालज्ञाता हैं। हम विपत्ति में फँसी हुई अबलाओं को कृपया इतना और बता दीजिए कि मेरी इस सखी के गर्भ में कौन है ?"

करुणा, दया और प्रेम के सागर मुनि अमितगति ने बताया—

"भद्रे ! यह सती-शिरोमणि तुम्हारी सखी अंजना बड़ी भाग्यशालिनी है। जीवन में दुःख और सुख तो बादलों की छाया की तरह कर्मों के परिणामस्वरूप आते-जाते ही रहते हैं, किन्तु इसके गर्भ से उत्पन्न बालक इसे तो धन्य करेगा ही, समस्त लोक का भी वह कल्याण करेगा। इसी नाते मैंने कहा कि यह सतीशिरोमणि है और इतनी पुण्यवान है कि इसका नाम स्मरण करके तथा इसके जैसे उज्ज्वल चरित्र को धारण करके अनन्तकाल तक अनेकानेक नारियाँ अपने जीवन को सफल करेंगी।

"तुमने पूछा कि इसके गर्भ में कौन है ? सुनो—

—पूर्वकाल में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मन्दर नाम का एक नगर था। उस नगर में एक वणिक रहता था, प्रियनन्दी। उसको जया नाम की पत्नी से दमयन्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

वह दमयन्त संस्कारवान था। उसकी प्रकृति धार्मिक थी। एक दिन उद्यान क्रीड़ा के लिए वह गया था तो वहाँ उसे एक मुनि के दर्शन हुए।

वह बहुत प्रसन्न हुआ । धर्मश्रवण करने से उसकी सद्वृत्ति में और निखार आया तथा उसने सम्यक्त्व सहित कई व्रत ग्रहण किये ।

भद्रे ! व्रतों को ग्रहण करना एक बात है, और उनका निष्ठापूर्वक पालन करना दूसरी बात । दमयन्त ने निष्ठापूर्वक उन व्रतों का पालन किया और देह त्याग करने के बाद वह दूसरे देवलोक में परमर्धिक देव हुआ । वहाँ से च्यवन करके वह मृगांकपुर के राजा वीरचंद्र और रानी प्रियंगु-लक्ष्मी का पुत्र सिंहचन्द्र बना । इस जन्म में भी सद्धर्म का पालन करते हुए वह देवलोक में गया । पश्चात् वैताढ्यगिरि पर अवस्थित वारुण नामक नगर के राजा सुकण्ठ की रानी कनकोदरी के गर्भ से वह सिंहवाहन नामक पुत्र हुआ ।

बहुत समय तक उसने सुखपूर्वक राज्यभोग किया । उसके बाद तीर्थंकर विमलप्रभु के तीर्थ में लक्ष्मीधर मुनि से दीक्षा ग्रहणकर कठोर तपश्चरण कर अपनी आत्मा को उच्च से उच्चतर बनाता हुआ वह काल-धर्म प्राप्तकर लांतक स्वर्ग में देव बना ।

वही पुण्यशाली देव अब तुम्हारी इस पुण्यवान सखी के गर्भ में अवतरित हुआ है ।

इतना और जान लो कि अंजना का वह सुपुत्र असाधारण पुरुष होगा । वह गुणों का आगार होगा । उस महापराक्रमी का पराक्रम अतुलनीय होगा । वह परम विवेकवान भी होगा । विद्याधरों का राजा ऐसा वह परम पुरुष चरमदेही होगा ।

"यह जानकर तुम सन्तुष्ट हो न ?"—इतना कहकर मुनि अमितगति प्रस्थान को उद्यत दिखाई दिये तो वसन्ततिलका ने इतना और पूछ लिया—

"प्रभो ! यह भी बता देने की कृपा करें कि ऐसा पुण्यशाली जीव क्या इसी कन्दरा में जन्म लेगा और इसी निर्जन क्षेत्र में वृद्धि को प्राप्त होगा ?"

"जन्म तो उसका इसी कन्दरा में होगा किन्तु पालित वह अपने मामा के घर होगा—धर्मलाभ !"

इतना कहकर मुनि अमितगति पक्षी की भांति आकाश में उड़ गए । संसार के सभी जीवों पर दया भाव रखते हुए भी जैन मुनि असंग रहते हैं तथा किसी एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं रुकते ।

× × × ×

मुनि श्री अमितगति ने जो बातें बताई थीं उन्हें जानकर अंजना को सन्तोष हुआ। पुत्र परम तेजस्वी, परम पुण्यवान होगा, यह ज्ञान किस माता को आनन्दित न करेगा ? उसका पालन भी उसके मामा के यहाँ होगा, अर्थात् वह निराश्रित नहीं रहेगा। यह सब बातें परम सन्तोष का कारण थीं एक माता की दृष्टि से। किन्तु पत्नी की दृष्टि से अंजना के हृदय में जो वेदना थी वह तो भीतर ही भीतर बनी रही, क्योंकि उस पर लांछन लगाया गया था।

मुनिवर के आकाश-गमन के पश्चात् महामंत्री फलाहार की खोज में बाहर निकल गये थे। उसी समय जब अंजना और वसन्ततिलका अकेली थीं, एक सिंह वहाँ आ निकला। भय की स्थिति हो गई किन्तु इसके पूर्व कि वह केशरी सिंह उन पर आक्रमण कर सके अंजना के गर्भस्थ शिशु के पुण्ययोग से आकर्षित होकर उस कन्दरा का अधिपति मणिचूल नामक गंधर्व अष्टापद का रूप धारण कर प्रगट हुआ और उस सिंह को भगा कर उसने उन दोनों की रक्षा की।

फिर वह गन्धर्व अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर जिन भगवन्त की स्तुति करने लगा। यह सब देखकर अंजना तथा वसन्ततिलका को बड़ा आश्वासन मिला।

समय व्यतीत होता रहा। मणिचूल प्रत्येक प्रकार से उनकी रक्षा करता रहा। वे लोग निरंतर भगवान की भक्ति करते हुए पुत्र-प्रसव की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे।

गर्भकाल पूर्ण होने पर अंजना ने एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका जन्म होते ही मानों वहाँ का वातावरण ही बदल गया। उस शान्त स्थल में आनन्द की ऊर्मियाँ तरंगति होने लगीं।

मुनि अमितगति ने यथार्थ भविष्य-कथन किया था। उसके अनुरूप संयोग जुटने ही थे। अस्तु, उसी समय आकाश मार्ग से विद्याधर प्रतिसूर्य उधर से निकला। उसने उस निर्जन स्थान में किसी नारी की रुदन-ध्वनि सुनी तो जिज्ञासावश, करुणावश, वह वहाँ उतर आया।

वस्तुतः अपने पुत्र के मुख को देखकर अंजना विलाप कर उठी थी—हाय ! ऐसे पुण्यवान पुत्र का जन्म ऐसे निर्जन वन में ? इसका सुन्दर मुख देखकर आनन्दित होने के लिए इसके पिता भी यहाँ नहीं ? इसका शुभ जन्मोत्सव मनाने के लिए मेरे पास इस निर्जन वन के मूक वृक्षों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं ?

विद्याधर प्रतिसूर्य ने वहाँ आकर वसन्ततिलका से इस परिस्थिति का कारण पूछा तो उसने आरम्भ से अन्त तक की यथास्थिति बता दी। वह सुनकर प्रतिसूर्य ने कहा—

"अरे अंजना बेटी, शान्त हो जा। तेरे दुःख के दिन बीत गये। मैं तेरा मामा हूँ, प्रतिसूर्य। विद्याधर चित्रभानु मेरे पिता तथा मेरी माता सुन्दरी-माला है। तेरी माता हृदयसुन्दरी मेरी बहिन है। तो मैं तेरा मामा हूँ न? कैसा शुभ संयोग है बेटी, कि मैं इधर आ निकला।"

अपने मामा को पाकर अंजना को मुनि अमितगति का कथन याद हो आया और अब उसके हर्ष के आँसू छलक उठे। बहुत काल पश्चात् अपने प्रिय स्वजनों से मिलन होने पर, विशेष रूप से तब जबकि वह बीच का काल कष्टमय रहा हो, खुशी होना स्वाभाविक ही है, और ऐसे अप्रत्याशित आनन्द के अवसर पर हर्ष के अश्रु प्रायः छलछला ही उठते हैं।

विद्याधर प्रतिसूर्य ने उस पुण्यवान बालक को अपनी गोद में लेकर प्यार किया, अंजना को धैर्य बँधाया और कहा—

"चलो बेटी, अब अपने घर चलते हैं। एक क्षण का विलम्ब भी असह्य हो रहा है। हनुपुर में आज परम आनन्द की वर्षा होगी। आप भी हमारे साथ ही चलेंगे मंत्रिवर!"

"नहीं भाई, मेरा काम तो पूर्ण हो गया। अब मैं निश्चिन्त हो गया। आप सुखपूर्वक पधारिये। बेटी अंजना का खूब ध्यान रखिएगा।"

"किन्तु पूज्यपाद! आप हमारे साथ क्यों नहीं चलेंगे? आप अकेले कहाँ-कहाँ भटकेंगे?"—अंजना ने कातर होते हुए कहा।

"बेटी! तुम सुखी रहो, यही कामना शेष है। अब तो मैं अकेला ही विचरूँगा तथा आत्म-कल्याण की साधना करूँगा। आग्रह न करो, विलम्ब भी न करो। जाओ बेटी, आनन्द से रहो।"

महामंत्री का एकान्त-सेवन का विचार दृढ़ जानकर अंजना तथा वसन्त-तिलका दोनों ने एक साथ उन्हें प्रणाम किया तथा विनयपूर्वक विदा ली।

विद्याधर प्रतिसूर्य का विमान अंजना तथा वसन्ततिलका के साथ आकाशमार्ग में पवनवेग से उड़ चला।

तीव्र गति से जाते हुए विमान में अंजना अपने पुत्र को प्रेम से खिला रही थी और खूब प्रसन्न थी। शिशु भी अपनी माता का दुलार पाकर

प्रसन्न था। कभी हँसता, कभी अपने नन्हे-नन्हे हाथ-पैर हिलाता। यह बाल-क्रीड़ा चल ही रही थी कि अचानक वह शिशु प्रसन्नता में विभोर होकर जोर से उछल पड़ा। मातृत्व के मोद में डूबी अंजना कुछ असावधान थी। शिशु उसकी गोद से उछलकर विमान से बाहर आ गया और बहुत नीचे पृथ्वी की ओर गिरने लगा। यह देखकर सभी के हृदय स्तब्ध रह गए। किन्तु प्रतिसूर्य तत्क्षण शिशु के पीछे कूद पड़ा.....

आशंकित, धड़कते हृदय से प्रतिसूर्य ने पृथ्वी पर पहुँचकर जो दृश्य देखा उसे देखकर वह विस्मित रह गया।

कठोर पाषाण की एक वृहत् शिला जिस पर वह शिशु आकर गिरा था चूर्ण-चूर्ण होकर पड़ी थी और वह शिशु आनन्द के साथ अपने नन्हें-नन्हें हाथ-पैर हिलाता हुआ निश्चिन्त होकर खेल रहा था। उसका शरीर पूर्ण रूप से अक्षत था, शिला ही चूरा-चूरा हो गई थी, मानो उस पर कोमल काया वाला कोई शिशु नहीं, बल्कि वज्र ही आकर गिरा हो।

प्रतिसूर्य ने झपटकर आनन्द के साथ शिशु को गोद में उठा लिया और शीघ्र विमान में जा पहुँचा। शिशु को सानन्द, स्वस्थ, सुरक्षित, अक्षत पाकर अंजना तथा वसन्ततिलका की चिंता मिटी और वे आनंदित हो गई। प्रतिसूर्य ने कहा—

"ले बेटी, तेरा पुत्र तो अद्‌भुत है।"

मुनिवर के वचनों का स्मरण कर अंजना ने उत्तर दिया—

"मामा! मुनिवर ने कहा था कि तेरा पुत्र बड़ा पुण्यवान, चरम शरीरी होगा। यह सब धर्म की कृपा तथा पुत्र के पुण्यों का सुफल है।"

"यही ठीक है। मैं इसका एक नाम तो अपनी नगरी हनुपुर के नाम पर हनुमान रखूंगा और इस शिला के चूर्ण-चूर्ण हो जाने की स्मृति में इसका दूसरा नाम श्रीशैल रखूंगा। ठीक है न?"

"हाँ मामा, आपने ठीक ही सोचा है।" अंजना ने कहा और मोद में भर गई।

कुछ ही समय पश्चात् प्रतिसूर्य का विमान हनुपुर के राजमहल में जा उतरा।

अपने मामा के घर अंजना का प्रेमपूर्ण स्वागत हुआ। जैसा घर के किसी भी व्यक्ति के आने पर होता है! सभी को खूब आनन्द हुआ। मानो साक्षात् कुलदेवी ने ही वहाँ पदार्पण किया हो।

बालक दूज के चन्द्रमा की भाँति विकास पाने लगा।

अंजना के दिन सुख से बीतने लगे।

केवल एक ही शल्य था जो उसके हृदय में निरन्तर चुभता रहता था। पाठक स्वयं ही सहजरूप से कल्पना कर सकते हैं कि वह शल्य क्या हो सकता है ?—निर्दोष चरित्र पर झूठा लांछन।

अंजना वीतराग भगवन्त की आराधना में डूबी रहती। अपने पुण्यशील बालक की बालक्रीड़ा उसे खूब आनन्द देती। वसन्ततिलका का साहचर्य उसे धैर्य एवं साहस प्रदान किया करता। मामा का निश्छल स्नेह उसे विभोर किये रहता।

फिर भी वह सोचा करती—हे जिनेश्वर ! मेरे मस्तक पर लगा यह असत्य लांछन कब दूर होगा ?

कब लौटेंगे 'वे' ? □

उन्होंने अंजना को दी थी अश्रय, किन्तु फिर भी, कौन जाने क्या हुआ हो ?

धीरता के आगार होते हुए भी पवनंजय के हृदय में कहीं व्याकुलता थी अवश्य। लेकिन वह व्याकुलता या चिन्ता, केवल उनके मन के किसी छिपे हुए कोने में ही समाहित थी। उनके व्यवहार में उसका कोई लक्षण कहीं प्रगट नहीं होता था। इतना आत्मसंयम पवनंजय में था। वे इतने दृढ़ चरित्र थे। कर्त्तव्य जो उनके सामने उस क्षण था वह प्रमुख था और उस कर्त्तव्य-पालन में उन्होंने कहीं कोई शिथिलता नहीं आने दी थी। अपने उस तात्कालिक कर्त्तव्य को कुमार पवनंजय ने किस अनोखी आत्म-शक्ति से, किस अनूठे प्रकार से पालन किया यह देखा जाय·····

पवनंजय के समक्ष जो तात्कालिक यथार्थ था, वह था—युद्ध ! लंकापति रावण ने उन्हें वरुणराज से युद्ध करने के लिये आमंत्रित किया था।

लंका से कुछ ही दूरी पर चारों ओर महासागर से आवेष्टित एक छोटा-सा द्वीप था—वरुणद्वीप। छोटा-सा वह द्वीप सूर्य की किरणों में जब झिलमिला उठता था तब इस प्रकार शोभायमान होता था जैसे महासागर ने कोई सुन्दर, आबदार मोती सूर्य के स्वागत में उछाल दिया हो।

उसी छोटे-से द्वीप पर अब लगी थी त्रिखंड के अधिपति रावण की गृद्ध दृष्टि !

कोई अपराध नहीं था वरुणराज का। वे अपने छोटे-से द्वीप में अपनी प्रजा का प्रेमपूर्वक पालन करते हुए शान्तिपूर्वक रहते थे। कभी किसी से कोई झगड़ा नहीं किया था उन्होंने। वे भले, उनका छोटा-सा द्वीप भला, उनकी भोली-भाली किन्तु वीर प्रजा भली।

किन्तु रावण तो त्रिखण्डपति थे। नहीं थे तो होना चाहते थे। ऐसा कोई भी प्रदेश हो जिसमें उनकी सत्ता न हो या कोई राजा हो जो उनका शासन स्वीकार न करे, यह त्रिखण्ड के अधिपति रावण को सह्य नहीं था।

वैसे रावण महापण्डित थे। विद्वान् थे। वीर थे। अनेकों ऋद्धि-सिद्धियाँ उनके चरण चूमती थीं, उनके मार्ग में बिछी रहती थीं। देव-दानव उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे—उनके एक इंगित की प्रतीक्षा में, आदेश शिरोधार्य करने हेतु।

कोई अन्त नहीं था रावण के वैभव का। अबाध थी उनकी सत्ता। किन्तु महासागर का वह आबदार मोती, वह वरुणद्वीप चुभता था रावण की आँखों में।

क्योंकि वरुणराज स्वतंत्रता के पुजारी थे। उनकी वीर प्रजा स्वातंत्र्य की दीवानी थी। वे किसी से कुछ नहीं लेते, फिर कोई उन्हें सताए क्यों? वे किसी परःअपना अधिकार नहीं जताते, फिर कोई उन्हें अपने अधीन क्यों करना चाहे? और यदि चाहे, तो वे स्वीकार क्यों करें? पराधीनता में जीने से मृत्यु को वे बेहतर मानते थे।

उनका यह मानना गलत नहीं था।

कुमार पवनंजय ने लंका पहुँचकर इस सत्य से साक्षात्कार कर लिया था।

और सत्यनिष्ठ अंजना ने भी तो विदा बेला में यही कहा था—मेरे देवता! सत्य के लिये जितना भी संघर्ष करना पड़े कीजिए, असत्य से समझौता न कीजिएगा। न्याय के पक्ष में रहिए, अन्याय का प्रतिकार प्राण देकर भी करना पड़े तो पीछे नहीं हटना है। प्रियतम! आप सत्य की विजय-पताका फहराते हुए सकुशल शीघ्र लौटें, यही मेरी प्रार्थना श्री जिनेश्वरदेव से है। मंगल-आरती का थाल सजाए मैं प्रतीक्षा करूँगी।

पवनंजय की दो आँखों में सत्य की दो उज्ज्वल दीप-शिखाएं झिल-मिला रही थीं.....

प्रहसित से वे बोले—

"क्यों मित्र, सैन्य के रात्रि विश्राम की सब व्यवस्था हो गई?

"सब हो गया। सैनिक विश्राम कर रहे हैं। भोजन शयन की व्यवस्था हो रही है। कल प्रातःकाल से तो युद्ध में सम्मिलित होना ही है।"

"हाँ ऽऽऽ। युद्ध तो करना ही है प्रहसित, किन्तु किसके विरुद्ध?"

"किसके विरुद्ध? यह कैसा प्रश्न कर रहे हो कुमार! हम लंकापति की सहायता के लिए बुलाए गए हैं। उन्हीं की ओर से वरुणराज के विरुद्ध युद्ध करना है। इसमें दुविधा कैसी?"

"दुविधा है कि नहीं, यह फिर कहूँगा। पहले मुझे तुम यह बताओ कि इस युद्ध का कारण क्या है?"

"कारण? कारण यही है कि वरुणराज त्रिखंड के अधिपति का आधि-पत्य स्वीकार नहीं करता।"

पवनंजय के चेहरे पर एक अलौकिक मुस्कान तैर गई। उन्होंने पूछा—

"क्यों प्रहसित! त्रिखंड का अधिपति, समस्त सृष्टि के सच्चे स्वामी श्री वीतराग प्रभु के अतिरिक्त भी कोई हो सकता है क्या? ठीक-ठीक सोच कर बताना।"

प्रहसित ने अब जाना कि कुमार की चिन्तनधारा किस ओर बह निकली है। कुछ क्षण मौन विचार के पश्चात उसने उत्तर दिया—

"तुम्हारे कथन में सत्य निहित है कुमार! प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है जो किसी अन्य का स्वामी हो सके। किन्तु इस सत्य को स्वीकार कौन करता है? कम से कम लंकापति तो नहीं ही करते।"

पवनंजय पुनः गंभीर भाव से मुस्कराए। उनके मुखमंडल पर एक विशिष्ट आत्म-विश्वास का तेज चमक उठा था। कहा उन्होंने—

"प्रहसित! लंकापति को इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा। स्वेच्छा से जितने चाहें उतने राजा उनकी छत्र-छाया को स्वीकार करें, उनके शासन में रहें, फलें-फूलें। किन्तु अपनी स्वतन्त्र इच्छा के विरुद्ध एक भी राजा उनके शासन को स्वीकार क्यों करे? चाहे वह राजा वरुणद्वीप जैसे नगण्य, छोटे-से द्वीप का ही शासक क्यों न हो?"

"किन्तु कुमार! इसमें हम क्या कह सकते हैं? हम लंकापति की सहायता के लिए आए हैं। मान लिया जाय कि हम उनकी सहायता न भी करें, किन्तु रावण की शक्ति इतनी प्रबल एवं अजेय है कि वरुणद्वीप जैसे सैकड़ों द्वीप उसकी सामर्थ्य के झंझावात के एक ही झकोरे में बह जायेंगे।"

"तुम भूलते हो प्रहसित, शक्ति जड़ साधनों में नहीं, चेतन आत्मा में होती है। और वह आत्मशक्ति दुर्निवार होती है।"

प्रहसित कुछ ठीक से समझ नहीं पाया कि आखिर कुमार कहना क्या चाहते हैं। विस्मय से अपने मित्र की ओर देखते हुए उसने पूछा—

"मैं तुम्हारे कथन का अर्थ समझ नहीं पाया कुमार! जानता हूँ, मानता हूँ कि मनुष्य की आत्म-शक्ति अजेय होती है। किन्तु इस युद्ध के प्रसंग में इस दार्शनिक सत्य का सामंजस्य कैसे बैठ सकता है।"

"वही सामंजस्य बिठाने का संकल्प मैंने कर लिया है प्रहसित, या तो यह कर सकूँगा या फिर···"

"कुमार! जो कुछ कहो, सोच-समझकर कहो। उत्साह और उतावलेपन से जीवन का समर नहीं लड़ा जाता।"

"उतावलेपन से नहीं लड़ा जाता होगा, किन्तु उत्साह से तो लड़ा ही जाता है। सत्य की रक्षा का उत्साह ही हमारे मन में न होगा तो हमारे जीवन का अर्थ ही क्या रह जाता है?"—पवनंजय अडिग निश्चय की मूर्ति बन गए थे।

"मेरा अभिप्राय यह नहीं था कुमार ! मैं कहना चाहता था कि इतने बड़े निर्णय तक पहुँचने से पूर्व गंभीर विचार कर लेना आवश्यक है।"

"कोई विचार अगंभीर भी हो सकता है क्या? विचार है तो उसे गंभीर ही होना चाहिए न।"

"पवन! तुम्हें अचानक हो क्या गया है? कैसी बातें कर रहे हो? मैं यह नहीं कहता कि तुम कुछभी गलत कह रहे हो। किन्तु फिर भी जो कुछ कह रहे हो, और उससे जो ध्वनि निकल रही है उससे मुझे प्रतीत होता है कि तुम लंकापति की ओर से संग्राम नहीं करना चाहते।"—प्रहसित ने कुछ चिन्तित भाव से कहा।

"लंकापति का इस वरुणद्वीप को निगल जाने का लोभ ठीक है क्या?"

"नहीं तो!"

"अर्थात् यह अन्याय है।"

"मानना ही पड़ेगा।"

"वरुणराज अपनी स्वतन्त्रता को खोना नहीं चाहते। वे अपनी धीर-वीर-शान्तिप्रिय प्रजा को किसी अत्याचार का शिकार नहीं होने देना चाहते। क्या यह उनका अधिकार और कर्त्तव्य नहीं है?"

"है। पवनंजय, ऐसा ही है। किन्तु····"

"बस, प्रहसित, जो सत्य और न्याय का पक्ष है वही पवनंजय का पक्ष है। वहाँ कोई किन्तु या परन्तु नहीं हो सकेगा।"

इतना कहकर कुछ-कुछ उत्तेजित पवनंजय अपने शिविर में इधर से उधर टहलने लगे। प्रहसित चुपचाप बैठा अपने मित्र की यह क्रिया देखता रहा। मन ही मन वह बहुत प्रसन्न था और सोच रहा था—कितना महान पुरुष है यह।

लेकिन वह कुछ चिन्तित भी हो रहा था, यह सोचकर कि पवनंजय के इस विचार और निश्चय का परिणाम क्या होगा? कहीं कुछ अनिष्ट घटित हो गया तो वह आदित्यपुर में महाराज और महारानी को और विशेष रूप से अंजना भाभी को कौन-सा मुँह दिखाएगा? लंकापति की शक्ति अमाप है, असीम है। उनका क्रोध भयंकर है। ऐसी स्थिति में पवनंजय ने क्या करने की सोची है? विकटरूप से उलझ गई इस परिस्थिति में से निकलने का क्या मार्ग हो सकता है?

पवनंजय गंभीर विचार कर रहे थे।

प्रहसित उधेड़बुन में पड़ा था।

निश्चय तो हो चुका था, अब पवनंजय यह सोच रहे थे कि किस विधि से इस भीषण नर-संहार को टालना होगा ? किस उपाय से त्रिखण्ड के अधिपति रावण को सन्मार्ग का दर्शन कराया जा सकेगा ? कैसे उन्हें समझाया जा सकेगा कि स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। और इस अधिकार का हनन पाप है, हिंसा पाप है, अन्याय एवं अत्याचार पाप है, साम्राज्य की लिप्सा पाप है।

उसी समय प्रहरी ने शिविर में प्रवेश किया और हाथ जोड़कर, शीष झुकाकर कहा—

"देव ! महासेनापति प्रवेश की अनुमति चाहते हैं।"

"आने दो।"—कहकर पवनंजय आसन पर शान्त भाव से बैठ गये।

महासेनापति ने प्रवेश करके अभिवादन के पश्चात् निवेदन किया—

'प्रभु ! समस्त सैन्य व्यवस्थित रूप से सागर तट पर फैल गया है और इस समय विश्राम कर रहा है। प्रातःकाल युद्ध का शंखनाद किस समय करना है, यह आज्ञा मिल जाय तो वैसी प्रस्तुति रहे। सैनिक विजय-श्री के वरण हेतु उतावले हो रहे हैं।"

सुनकर पवनंजय ने कुछ विनोद तथा कुछ रहस्य मिश्रित मुस्कुराहट के साथ प्रहसित की ओर एक दृष्टि निक्षेप किया और सेनापति से कहा—

"सेनापति जी ! हमारे मित्र प्रहसित कहते हैं कि उतावलेपन से जीवन का समर नहीं जीता जाता।"

बेचारे सेनापति को कुमार पवनंजय की यह असंबद्ध बात कुछ समझ में नहीं आई। वे तो योद्धा थे। शत्रु के साथ युद्ध करना और विजय पाना अथवा अपना शीष उतार कर रख देना जानते थे। आँखें टिमटिमाते हुए वे हाथ जोड़कर कुमार की ओर देखते रह गए।

कुमार को हँसी आ गई। बोले—

"सेनापति जी ! आपकी तथा आपके सैनिकों की वीरता विश्रुत है। किन्तु हमारे सैन्य को कल युद्ध नहीं करना है। कल का युद्ध अकेला पवनंजय ही करेगा।"

दोनों चौंक गए। प्रहसित भी, सेनापति भी। सेनापति के मुँह से तो विस्मय के मारे बोल ही नहीं फूटे, प्रहसित ने ही कहा—

"कुमार, पहेलियाँ न बुझाइये। यह समरांगण है । स्पष्ट कहने की कृपा कीजिए कि आप क्या करने जा रहें हैं ?"

"बिलकुल सीधी बात है प्रहसित ! मैं लंकापति के पास जाऊँगा और उनसे कहूँगा कि वे इस युद्ध को सत्य और न्याय के नाम पर तत्काल समाप्त कर दें। आप, सेनापति जी जाइये । निश्चिन्त होकर विश्राम कीजिए। हमारे अगले आदेश की प्रतीक्षा कीजिए। तब तक कोई सैनिक किसी भी स्थिति में शस्त्र प्रयोग नहीं करेगा।"

आदेश स्पष्ट था, किन्तु विचित्र भी था। भौंचक्का-सा महासेनापति उल्टे पैरों लौट गया, कुमार को शीष झुकाकर, केवल दो ही शब्द कहकर "जो आज्ञा !'

तब प्रहसित ने कुमार से कहा—

"अब ठीक-ठीक बताओ कुमार, तुम क्या करने जा रहे हो ? सेनापति जी के सामने तो मैं तुमसे क्या बहस करता, किन्तु लंकापति के पास तुम्हारे इस तरह जाने का क्या अर्थ है ? इसके परिणाम का भी कुछ विचार किया है तुमने ?"

"खूब विचार कर लिया है मित्र ! परिणाम क्या होगा इसकी चिन्ता नहीं है मुझे। केवल अपने कर्त्तव्य का विचार ही कर रहा हूँ। फिर भी, तुम पूछते हो कि परिणाम क्या होगा। तो दो ही बातें हो सकती हैं—या तो वे मेरी बात को समझेंगे और मानेंगे, या फिर नहीं मानेंगे।"

"नहीं पवन ! इसके अतिरिक्त और भी कुछ हो सकता है। लंकापति इस समय बहुत क्रुद्ध हैं। काफी समय से वे वरुणद्वीप का घेरा डाले पड़े हैं और आक्रमण पर आक्रमण कर रहे हैं। किन्तु वीर और स्वाभिमानी वरुणराज भी अपने स्थान पर अडिग हैं। लगता है कि वे और वरुणद्वीप का प्रत्येक नागरिक अपना शीष कटा देगा किन्तु झुकेगा नहीं। ऐसी विषम स्थिति में तुम्हारा लंकापति के पास अकेले यह विचित्र शान्ति सन्देश लेकर जाना खतरे से खाली नहीं है।"

"प्रहसित ! बिना कुछ न कुछ खतरा मोल लिए तो जीवन में किसी भी महान उद्देश्य की प्राप्ति असंभव है।"

"लेकिन कुमार, वे तुम्हें बंदी भी बना सकते हैं....."

"और मुझे शूली पर भी चढ़ा सकते हैं। तो फिर ?"

"तो फिर ? कैसा प्रश्न कर रहे हो कुमार ! जैसे यह कोई साधारण बात हो।"

"असाधारण भी क्या है प्रहसित ! प्रतिदिन हजारों लाखों निर्दोष व्यक्तियों का रक्त इस महासागर में बहकर विलीन हो रहा है। एक पवनंजय और रहा न रहा, क्या फर्क पड़ता है ?"

प्रहसित का मस्तिष्क चकरा गया। यह क्या होने जा रहा है ? पवनंजय कुछ सोचता-समझता क्यों नहीं ? कुछ देर चुपचाप अपने मित्र को घूरती-सी दृष्टि से देखकर किसी निश्चय पर पहुँचकर उसने कहा—

"तुम जनम के जिद्दी हो कुमार, यह मैं जानता हूँ। नहीं मानोगे। तब ठीक है। तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो। किन्तु इतना समझ लो कि प्रहसित जीवन और मरण में तुम्हारे साथ ही रहेंगा।"

कुमार हँस पड़े, बोले—"सो तो तुम रहोगे ही प्रहसित किन्तु लंकापति से मिलने तो मुझ अकेले को ही जाने देना होगा। देखो, सुनो, तुमने कहा न कि रावण क्रुद्ध हैं, वे कुछ भी कर सकते हैं। यह तुमने बिलकुल ठीक ही कहा है। अतः यह और भी आवश्यक है कि तुम अपने सैन्य के साथ स्कन्धावार में ही रहो। उसकी रक्षा का दायित्व तुम्हारा होगा।"

"और तुम्हारी रक्षा ? तुम्हारी सुरक्षा मेरे जीवन का प्रथम और अन्तिम दायित्व है कुमार !"

"फिर वही भावुकता की बात? अरे मित्र, मेरी रक्षा भी हो जायगी। सत्य और धर्म जिसके रक्षक हों, उसे भय कैसा ? फिर भी, तुम अपने कुशल गुप्तचरों की आँखों से मेरी तथा लंकापति की प्रत्येक गतिविधि पर दृष्टि रख सकते हो। ऐसा ही करना। और तब जैसी भी परिस्थिति बने, अपने विवेक से कार्य करना। अब तो ठीक है न ?"

प्रहसित ने मन ही मन भगवान जिनेश्वर देव का स्मरण किया और कहा—

"ठीक है कुमार, भगवान से विनय है कि तुम्हारी विजय हो। प्रहसित छाया बनकर तुम्हारे साथ रहेगा।"

× × × × ×

घनघोर युद्ध हो रहा था। लंकापति के अनगिन जलयान चारों दिशाओं से छोटे-से वरुणद्वीप पर आक्रमण पर आक्रमण कर रहे थे। अनेक

प्रकार के तीरों तथा आग्नेयास्त्रों से आकाश ढक गया था। युद्ध की नवीनतम स्थिति की सूचनाएँ प्रतिपल लंकापति को मिल रही थीं। केवल सूचनाएँ, विजय नहीं। लंकापति अब बिफरे हुए सिंह की भाँति स्वयं समरांगण में उतरने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे।

उसी समय प्रतिहार ने प्रवेशकर सूचना दी—

"त्रिखंडाधिपति की जय हो....."

"वही तो मिल नहीं रही है। बकवास बन्द करो। क्या कहना चाहते हो ?"—लंकापति ने प्रतिहार को आग्नेय नेत्रों से घूरते हुए कहा। उनकी इस दृष्टि के सम्मुख बेचारा प्रतिहार थर्रा गया। जैसे-तैसे साहस बटोरकर बोला—

"प्रभु! आदित्यपुर के युवराज कुमार पवनंजय दर्शन की अनुज्ञा चाहते हैं।"

"आने दो।"

पवनंजय ने भीतर प्रविष्ट होकर प्रणाम किया। उसके चेहरे पर अखंड शान्ति विराज रही थी। वह निःशस्त्र था। कोई लक्षण ऐसा नहीं था जिससे लगे कि वह युद्ध के लिए प्रस्तुत होकर आया हो। फिर भी उसे देखकर ऐसा लगता था कि जैसे कोई वज्र-पुरुष आकाश से एकाएक उतर आया हो। उसकी यह कुसुम-कोमल और वज्र कठोर निराली छवि देखकर क्षणभर लंकापति उसे देखते ही रह गए। फिर वे बोले—

"कुमार पवनंजय! यह क्या हुलिया बना रखा है? तुम्हारे शस्त्र कहाँ हैं ? तुम्हारा सैन्य कहाँ है ? अपने सैन्य को अविलम्ब आदेश दो कि वरुण द्वीप पर आक्रमण करे। हम भी आते हैं। परेशान हो गए हैं हम.....।"

"धृष्टता के लिए क्षमा करें महाराज ! आप ज्ञान में, शक्ति में, आयु में सभी प्रकार मुझसे बड़े हैं। बड़े ही नहीं, पितातुल्य पूज्य हैं। किन्तु आपकी परेशानी क्या है ?"

"परेशानी क्या है ? कैसा सवाल है यह ? क्या तुम जानते नहीं कि तुम्हें किसलिए बुलाया है हमने ? यह कीड़े-मकोड़े जैसा तुच्छ द्वीप हमारी शक्ति को ललकार रहा है और तुम पूछते हो कि हमारी परेशानी क्या है ? हम इसे मसलकर, कुचलकर रसातल में पहुँचा देंगे।"

"आप समर्थ हैं महाराज! किन्तु आपके इस क्रोध का कोई कारण ?

वरुणराज का कोई अपराध ?"—पवनंजय ने शान्त स्थिरतापूर्वक प्रश्न किया ।

जीवन में लंकापति ने केवल आदेश दिये थे । उन आदेशों का पालन मानवों द्वारा होते देखा था । उनसे प्रश्न करने का दुस्साहस आज तक किसी ने नहीं किया था । और आज ! यह कल का छोकरा उनसे प्रश्न कर रहा है ? त्रिखंड के स्वामी से प्रश्न ? विस्मय और क्रोध से वे जल उठे । ज्वालामुखी का विस्फोट-सा करते हुए वे गरजे—

"छोकरे, तू होश में है ? जानता है तू किसके समक्ष खड़ा है ?"

"महापंडित, शास्त्रज्ञ, ज्ञानी-ध्यानी, तपस्वी और परमवीर त्रिखंडाधिपति लंकेश्वर के समक्ष उपस्थित है यह अल्पज्ञ पवनंजय ।"

पवनंजय का ऐसा उत्तर सुनकर लंकेश्वर फिर उलझ गए । किन्तु क्षण-दो क्षण रुककर बोले—

"तू इतना जानता है तो फिर हमारे आदेश का पालन करने के स्थान पर हमें क्या उपदेश देना चाहता है ? समरांगण में उपस्थित होकर इस ज्ञान-ध्यान की बकवास का क्या मतलब ?"

"जीवन के समरांगण में ज्ञान और ध्यान ही सच्ची विजय के श्रेष्ठ साधन हैं महाराज ! आप विचार तो कीजिए । इस छोटे-से द्वीप के शान्त और स्वतंत्र निवासियों को मौत के घाट उतार कर आपको और क्या मिल जायगा जो अभी आपके पास नहीं है ? आपने अभी इन्हें कीड़े-मकौड़े की संज्ञा दी थी । क्या निरीह कीड़े-मकौड़ों को भी अपने स्थान पर जीवित रहने का अधिकार नहीं है ? कहिए महाराज····!"

"बकवास बन्द करो, मेरे पास समय नहीं है । अधिकार इस पृथ्वी पर केवल रावण के पास है । उस अधिकार को चुनौती देने वाला जीवित बचेगा नहीं । जाओ, अपने सैन्य को कूच का आदेश दो, जाओ ।"

पवनंजय अपने स्थान से हिला तक नहीं । उसी शान्त किन्तु दृढ़ स्वर में उसने कहा—

"लंकेश्वर! अधिकार की आपकी परिभाषा अनीतिमय है । इस निखिल सृष्टि में प्रत्येक प्राणी को शान्ति और स्वतंत्रतापूर्वक जीने का अधिकार है । और उस अधिकार को कोई छीन नहीं सकता । आज नहीं तो कल आपको मेरे इस कथन की सत्यता को स्वीकार करना ही होगा । क्षमा करें मुझे आपका आदेश मान्य नहीं है·····"

"प्रतिहार ! इस उद्धत विद्रोही छोकरे को अपना ज्ञान बघारने और ध्यान धरने के लिए कारागार में फेंक दो।" भयानक आदेश देकर लंकापति उस कक्ष से बाहर निकल गए।

सैनिकों के घेरे में बन्दी पवनंजय निर्विकार मुद्रा में कारागार की ओर चल पड़ा।

× × × ×

प्रहसित ने कहा था कि वह छाया की तरह पवनंजय के साथ रहेगा। उसने ऐसा ही किया भी। उसने अपने अत्यंत चतुर गुप्तचरों का जाल सारी लंकापुरी में फैला दिया था। यहाँ तक कि स्वयं लंकापति के प्रासाद में भी उसके गुप्तचर पुरुष अथवा स्त्रीवेष में पैठ चुके थे और प्रत्येक घटना पर उनकी पैनी दृष्टि पड़ रही थी। कुमार के समझाने का कोई प्रभाव रावण पर नहीं हुआ है तथा उन्हें कारागार में डाल दिया गया है यह सूचना भी प्रहसित को तत्काल मिल चुकी थी।

प्रहसित रंचमात्र भी घबराया नहीं। आपत्तिकाल में घबराहट ही मनुष्य की सबसे बड़ी बाधा बन जाती है। धैर्य, साहस और विवेक बुद्धि ही उस समय काम आते हैं। और प्रहसित तो पहले से ही प्रत्येक स्थिति का सामना करने के लिये प्रस्तुत बैठा था। शान्त भाव से उसने साँझ का झुटपुटा होने तक प्रतीक्षा की।

दिवस और रात्रि की उस मिलन-वेला में जब प्रकाश को परे हटाकर अन्धकार अपना साम्राज्य फैलाने लगता है, तब प्रहसित ने अपनी योजना को क्रियान्वित किया—

कारागार की उस कोठरी की ऊँची, काली दीवारों से सटाकर प्रहसित ने कुमार पवनंजय का यान इतनी कुशलता एवं निःशब्द रूप से लगा दिया कि प्रहरियों को भनक तक न होने पाई। फिर एक भली प्रकार प्रशिक्षित गोह के पैरों में मजबूत रेशमी रस्सी बाँधकर उसे उस कोठरी की ऊँची खिड़की की ओर उछाल दिया। गोह धीरे-धीरे दीवार पर चिपकी हुई, सरकती हुई खिड़की तक जाकर वहाँ इस प्रकार चिपक गई जैसे फौलाद की बनी हो।

एक बार प्रहसित ने रस्सी को खींचकर देख लिया। फिर आश्वस्त होकर वह अपने मुँह में लोहे की सलाखें काटने का अस्त्र लेकर फौरन उस खिड़की तक जा पहुँचा। देखते-देखते ही उसने खिड़की की इतनी सलाखें

काट डालीं जितनी कि एक मनुष्य के बाहर आने के लिए आवश्यक थीं। इसके बाद उसने रस्सी खींचकर कोठरी के भीतर लटका दी और फुस-फुसाते हुए कहा—

"कुमार पवनंजय, शीघ्रता करो। यह रस्सी पकड़कर ऊपर चढ़ आओ।"

पवनंजय ने अपने बाल-सखा का स्वर पहचान लिया था। वह जानता भी था कि प्रहसित शान्त बैठने वाला नहीं है। कुछ न कुछ उठा-पटक वह करके ही रहेगा। उसे अपने प्राणों की तनिक भी परवाह नहीं थी, चिन्ता थी तो केवल वरुणद्वीप के निर्दोष निवासियों की अकारण की जा रही निर्मम हत्या की। किसी मूल्य पर वह इस अमानुषिक हिंसा और हत्याकांड को रोकना चाहता था।

काल कोठरी के अन्धकार में ही वह एक बार मुस्कराया और बोला—

"तो तुम आ ही गए प्रहसित ! मैं जानता था। मुझे तुम्हारे बुद्धिबल पर भरोसा था ....."

"यह सब बाद में देखा जायगा महाशय ! अभी तो आप अविलम्ब और चुपचाप ऊपर पधारिये। किसी भी क्षण कोई प्रहरी इधर आ निकलेगा तो व्यर्थ में रक्तपात होगा।"

"अच्छा अच्छा, गुरुदेव ! आता हूँ।"—कहकर हँसते हुए पवनंजय रस्सी पकड़कर तुरन्त ऊपर आ गया। खिड़की से बाहर निकल आने पर रस्सी फिर से खींचकर बाहर लटका दी गई और दोनों मित्र नीचे, यान में आकर बैठ गए। सेवक ने रस्सी को झटका देकर गोह को संकेत दिया। उसने अपनी पकड़ ढीली की और सरकती हुई वह भी नीचे आ गई। सेवक के गोह सहित यान के पिछले भाग में बैठ जाने पर प्रहसित ने यान आकाश में सीधा ऊपर उठा दिया। शत्रुओं की पहुँच से परे आ जाने पर प्रहसित ने पूछा—

"अब कहिए महात्मा जी, क्या आज्ञा है ? लंकापति को समझा आए ?"

"प्रयत्न करना मनुष्य का धर्म है, कर्त्तव्य है, प्रहसित ! वह मैंने किया और करना शेष है।"

"अब क्या करना होगा ?"

"दिन के समय मैंने कारागृह के प्रहरियों को बातें करते सुना था कि वरुणद्वीप की दक्षिण दिशा में बड़ी-बड़ी चट्टानों में अदृश्य एक गुप्त मार्ग है।

उसका पता लंकापति के चरों को लग चुका है । आज रात में किसी भी समय उस गुप्त मार्ग पर लंकापति अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करके आक्रमण करने की तैयारी कर रहे हैं । यदि उस मार्ग से उन्हें प्रवेश मिल गया तो विनाश निश्चित है । इसे रोकना ही होगा ।"

"किन्तु कैसे पवन ? वरुणराज के पास अब सैन्य बचा ही कितना है ? हमारा सैन्य भी लंकापति तथा उनके सैकड़ों सहयोगी राजाओं की सम्मिलित सैन्य-शक्ति का सामना करेगा भी तो कब तक ?"

"सारे दिन यही विचार करता रहा हूँ, प्रहसित ! जड़ शक्ति का सामना मात्र चैतन्य शक्ति से ही संभव है ।"

"अर्थात् ?"

"यह सब मुझ पर छोड़ दो प्रहसित ! जिनदेव की कृपा होगी तो हिंसा पर अहिंसा की विजय अवश्य होगी । समय कम है । मेरा कहना मानो, मुझे वरुणद्वीप पर छोड़कर तुम अपने सैन्य को कुछ पीछे हटाकर सावधान रहो । अभी तो मैं इतना ही कह सकता हूँ । भविष्य क्या है, यह तो भविष्य ही कहेगा । यान को वरुणद्वीप की ओर संचालित करो ।"

तर्क करने से कोई अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा, यह जानकर प्रहसित ने पवनंजय के आदेश का पालन किया और वे शीघ्र ही द्वीप पर जा उतरे । अपरिचित यान को द्वीप पर उतरता देखकर वरुणराज के सैनिकों ने उसे घेर लेने की तैयारी देखते ही देखते करली । ज्योंही यान द्वीप पर उतरा सैकड़ों शस्त्र यान की ओर सधे हुए थे ।

किन्तु उस यान से जो देवपुरुष बाहर निकला उसकी प्रशान्त तथा धीर-गंभीर मुखमुद्रा को देखकर सारे सैनिक असमंजस की स्थिति में स्थिर ही खड़े रह गए । वरुणराज तक यह सूचना पहुँचने में कोई विलम्ब नहीं लगा था । वे भी कुछ ही क्षणों में वहाँ पहुँच गए । उन्होंने पवनंजय को पहचान लिया । वे आगे बढ़े और बोले—

"कुमार पवनंजय ! आप यहां ?"

"हाँ, वरुणराज ! आपको आश्चर्य हो रहा है ?"

"स्वाभाविक नहीं है ?"

"है । आपका आश्चर्य स्वाभाविक है, क्योंकि मुझे लंकापति की ओर से युद्ध करने हेतु आमंत्रित किया गया था ।"

"तब फिर आपकी यहां उपस्थिति का अर्थ ?"

"यही कि लंकापति ने भी, और आपने भी अब तक पवनंजय के स्वभाव को नहीं पहचाना। पवनंजय यदि रहेगा तो धर्म और न्याय के पक्ष में ही रहेगा अन्यथा वह मर मिटेगा। अन्याय और अधर्म का पक्ष पवनंजय का पक्ष नहीं हो सकता।"

"आपके इस कथन में महत्ता एवं सदाशयता की ध्वनि है, कुमार! किन्तु यह स्थिति अप्रत्याशित है, अतः मैं समझ नहीं सका हूँ।"

"समय भी बहुत कम है। शत्रु किसी भी क्षण द्वीप के गुप्तमार्ग में प्रविष्ट हो सकता है। आइये, कुछ एकान्त में चलिए। मैं आपको सब कुछ बताता हूँ।"—वरुणराज से यह कहकर पवनंजय ने प्रहसित से कहा—"जाओ मेरे मित्र! विलम्ब न करो। अपने सैन्य को सुरक्षित रखना। मेरी चिन्ता न करना। धर्म हमारे पक्ष में है।"

यान को उड़ाकर प्रहसित ले गया। वरुणराज और पवनंजय एकान्त मंत्रणा में डूब गये।

सारी स्थिति पर विशद चर्चा कर लेने के पश्चात् पवनंजय ने वरुणराज से कहा—

"वरुणराज! आप इसे केवल मुख पर की गई प्रशंसा न मानें, यह सत्य है कि आप तथा इस द्वीप की प्रजा धन्य हैं। एक आदर्श है जो इस समस्त भरतक्षेत्र के सम्मुख आपने प्रस्तुत किया है। जीवन तो क्षणभंगुर ही है, किन्तु आत्मसम्मान एवं आत्मश्रद्धा कभी खोई नहीं जानी चाहिए। मेरी आत्मा से तो यह पुकार निरन्तर उठ रही है कि अन्तिम विजय धर्म की ही होगी।"

"कुमार! यह हमारा सौभाग्य है कि आप जैसे महान् पुरुष यहाँ पधारे। इस द्वीप का आबाल-वृद्ध-नर-नारी कृतसंकल्प है कि वह जीवित रहेगा तो स्वतन्त्र रहकर ही। अन्यथा वह अन्याय और अत्याचार के सम्मुख हँसते-हँसते अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जूझेगा और अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करेगा।"

"ऐसा ही होना चाहिए। इस प्रकार की उच्च नैतिक भावना आप अपनी प्रजा में भर सके, यह आपके जीवन की बहुत बड़ी सफलता है। किन्तु अब चलना चाहिए। आप अपने सन्तोष के लिए उस गुप्त मार्ग के चारों ओर सशक्त सैन्य गठित कर दीजिए, किन्तु उसके भीतर केवल मैं ही रहूँगा—नितान्त अकेला।"

"स्वीकार है। किन्तु जो सैन्य मैं गुप्त मार्ग के चारों ओर गठित रखूँगा, वह केवल आपकी सुरक्षा और सावधानी के विचार से ही। आप अन्यथा विचार न करें। हमें आपके वचन में असंदिग्ध विश्वास है। आपकी आत्मश्रद्धा में पूरा भरोसा है।"

"ठीक है, आइये, अब विलम्ब का अर्थ अनर्थ भी हो सकता है।"

× × × ×

लंकापति रावण की अधिकारलिप्सा ने उन्हें अन्धा बना दिया था। न्याय-अन्याय उन्हें दिखाई नहीं देता था। उचित-अनुचित का विचार उनके मस्तिष्क में उस समय प्रवेश पा नहीं सकता था। इसलिए उन्होंने कुमार पवनंजय की विवेकपूर्ण बात को सुनकर भी अनसुना कर दिया था।

फिर भी पवनंजय के व्यक्तित्व की विशिष्टता से वे अछूते या अप्रभावित नहीं रह सके थे। युद्ध की व्यस्तता के बीच भी उन्हें बार-बार पवनंजय की वह अडिग मुद्रा, उसका वह धीर-गंभीर स्वर और उस स्वर के पीछे छिपी हुई कोई अलौकिक शक्ति निरन्तर पुकार रही थी और सोचने के लिए विवश कर रही थी। जब-जब भी उन्हें कुमार का स्मरण आता, वे कुछ क्षण के लिए क्षुब्ध, अशान्त से हो जाते; लेकिन फिर प्रयास करके अपना ध्यान युद्ध की ओर ही लगा देते।

इसी मनःस्थिति के बीच उन्होंने अपनी योजनानुसार सारी शक्ति वरुणद्वीप के दक्षिण की ओर उस गुप्त मार्ग पर लगा दी थी जहाँ से वे द्वीप में प्रविष्ट हो जाना चाहते थे।

वरुणराज का छोटा-सा सैन्य उस स्थल पर छोटी-बड़ी शिलाओं की ओट में सजग, सावधान खड़ा था।

और उस गुप्त मार्ग के भीतर निःशस्त्र, ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठा था कुमार पवनंजय।

आज का युद्ध जड़ शस्त्र-शक्तियों के बीच नहीं, हिंसा और अहिंसा के बीच होना था। धर्म और अधर्म आमने-सामने थे। न्याय और अन्याय का संघर्ष था।

महासागर के किनारे उन शिलाओं से टकरा-टकराकर लंकापति के असंख्य शस्त्र चूर-चूर हो रहे थे। त्रिखंड के अधिपति दाँत किटकिटा रहे थे, हाथ-पैर पटक रहे थे, क्रोध, झल्लाहट और विवशता से अर्ध-विक्षिप्त से हो रहे थे; किन्तु मार्ग उन्हें मिल नहीं रहा था।

पवनंजय ने अपने ध्यान को केन्द्रित किया। अपनी समस्त विचार एवं संकल्प शक्ति को उन्होंने केवल एक ही बिन्दु पर स्थिर कर दिया था। उस परम आलोकमय सूक्ष्म तेजोबिन्दु में से उन्हें शान्ति और प्रेम की अनन्त प्रभा-रश्मियाँ विकीर्ण होती दिखाई दे रही थीं·····

पवनंजय स्थिर, शान्त, अविचल रूप से ध्यानावस्थित थे।

और अब वे प्रभा-रश्मियाँ उनकी समस्त देवोपम देह से प्रस्फुटित होकर उस सम्पूर्ण द्वीप को आच्छादित करके समग्र नभोमण्डल एवं महा-सागर के सम्पूर्ण विस्तार तक फैलती चली जा रही थीं····

त्रिखंड के अधिपति लंकेश्वर रावण और उनके समस्त सैन्य के उठे हुए हाथ जहाँ के तहाँ स्थिर रह गये थे। किसी भी प्रकार से वे हिलाये हिल नहीं रहे थे। उनके असंख्य जलयान भी उस महासागर की तरंगों पर जहाँ के तहाँ जड़वत् होकर रह गये थे। लंकापति ने बहुत दाँत किट-किटाए, बहुत मंत्र पढ़े अपनी समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का स्मरण किया, अपने असंख्य दिव्यास्त्रों को पुकारा—किन्तु कुछ नहीं हो सका। ऋद्धि-सिद्धियाँ राख बनकर रह गई थीं। दिव्यास्त्र जंग लगे लौहखंड मात्र रह गए थे। उनके आज्ञाकारी देव और दानव असमर्थ, भौंचक्के होकर अपनी रक्षा की पुकार करते हुए कह रहे थे—"महाराज! त्रिखंडाधीश्वर! स्वामी! रक्षा कीजिए। हम सब विवश हैं। निश्चय है कि यह अलौकिक, अपराजेय सद्धर्म की शान्त वज्र शक्ति है। इस शक्ति के सम्मुख अन्य कोई शक्ति नहीं है जो ठहर सके। कुछ कीजिए महाराज!"

'महाराज' और तो क्या कर सकते थे, बस, विचार कर सकते थे। वही उन्होंने किया भी। उन्होंने सोचा—आज तक अपराजेय और अखंड उनकी दिव्य शक्तियों को यह एकाएक क्या हो गया? त्रिखंड में जिनकी कोई तुलना नहीं थी, वे अद्भुत शक्तियाँ यकायक इस तरह प्रभावहीन कैसे हो गईं? अवश्य कोई परम सशक्त कारण ही होना चाहिए। धर्म.... धर्म····· धर्म···· तो क्या वह छोकरा आखिर ठीक ही कहता था? क्या मैं अधर्म कर रहा हूँ? क्या अधर्म कर रहा हूँ? यह वरुणराज मेरी सत्ता को स्वीकार क्यों नहीं कर लेता? सारा झगड़ा ही समाप्त हो जाता। किन्तु उस छोकरे ने क्या कहा था? —'प्रत्येक प्राणी को अपने स्थान पर स्वतंत्रता-पूर्वक जीने का अधिकार है'—क्या यही सत्य है? होना चाहिए। यही सत्य होगा। तभी न, मेरी समस्त शक्तियाँ आज कुण्ठित होकर रह गई हैं? लगता है कि मैंने भूल ही कर डाली है। बेचारा वरुणराज शान्ति से

अपने छोटे-से द्वीप में रहता है तो मेरा क्या बिगाड़ता है ? उसे मुझसे कोई वैर नहीं। वैर उससे मैंने ही बाँधा है। भूल हुई। किन्तु अब किया क्या जाय···· ?

लंकेश्वर रावण को असीमित सत्ता की लिप्सा ने कुछ समय के लिए घेर लिया था और उनका विवेक सुप्त हो गया था। किन्तु इस विचार-बोध ने उनकी सोई हुई विवेकबुद्धि को जागृत कर दिया। आखिर वे महापंडित भी थे। इस विवेकबुद्धि के जागने पर सहसा ऐसा लगा मानो किसी अमृतसरोवर में स्नान करके उनकी आत्मा एकाएक पवित्र हो आई है ···।

अन्धकार का आवरण हट गया। शुभ प्रभात की बेला आ गई। सूर्य की प्रथम स्वर्णरश्मियों ने जब सागर की लहरों को सोने के रंग में रंग दिया तब कुमार पवनंजय ने अपना ध्यान समाप्त किया और गुप्तद्वार से बाहर आकर वे एक ऊँची शिला पर आकर खड़े हो गए। उस समय उनके भव्य, प्रशान्त और प्रभामय मुखमंडल को देखकर ऐसा लगता था मानो किसी परमलोक से कोई परमपुरुष आकर वहां खड़ा हो गया है।

दूर समुद्र की तरंगों में लंकापति रावण का जलयान स्थिर खड़ा था और उसमें स्थिर खड़े थे स्वयं लंकापति। वे अपलक कुमार की ओर ही देख रहे थे।

कुमार ने अपने दोनों हाथ जोड़कर लंकापति को प्रणाम किया और विनम्र किन्तु गंभीर वाणी में वे बोले—

"महापंडित लंकेश्वर को विनीत पवनंजय का प्रणाम स्वीकार हो ! कृपया अपने सैन्य को आदेश दें कि वह अपने स्थान पर शान्तिपूर्वक लौट जाय।"

"किन्तु कुमार····" कहते-कहते लंकापति ने देखा कि उनके जड़ हो गए समस्त जलयानों में फिर से गति आ गई थी, सैनिक जो मूर्तिवत् स्थिर रह गये थे वे भी हिलने-डुलने लगे थे। विवेक उनका जागृत हो चुका था। आत्मा उनकी शान्ति और प्रेम के सरोवर में स्नान करके अमृत बन चुकी थी। प्रसन्नता के आवेश में वे आगे बोले—"कुमार पवनंजय ! तुम धन्य हो ! तुमने मेरी आँखें खोल दीं। तुम्हारी जय हो !"

लंकापति के मुख से पवनंजय की जय के शब्द सुनते ही उनका समस्त सैन्य-समूह समवेत उच्च स्वर से जयघोष कर उठा—'कुमार पवनंजय की जय हो।'

फिर लंकापति ने और भी ऊँचे स्वर से कहा—'वरुणराज की जय हो।'

'वरुणराज की जय हो!'—चारों दिशाओं में यह जयघोष भी गूंज उठा।

तब पवनंजय ने जोर से पुकारा—"त्रिखंडाधिपति महापंडित लंकेश्वर की विजय हो!"

द्वीप और महासागर से गगनभेदी निनाद उठा—"त्रिखंडाधिपति महापंडित लंकेश्वर की विजय हो!"

इस तुमुल जयनाद के समस्त दिशाओं में ध्वनित-प्रतिध्वनित होकर शान्त हो जाने के बाद लंकेश्वर ने पुकारा—

"कुमार पवनंजय! मेरे बेटे! आओ मेरे पास। मेरे हृदय से लग जाओ। और वरुणराज आप भी आप भी आइये। मुझसे भूल हुई, उसे भुला दीजिए। आज से आप मेरे प्रिय मित्र होंगे। आज का यह प्रभात शुभ है। और इस शुभान्त अथवा शुभारम्भ का श्रेय इस सुशोभन युवक पवनंजय को है।"

"धर्म ही एकमात्र श्रेय है, लंकेश्वर! हम सब तो निमित्त मात्र हैं....."

"हाँ बेटे! ठीक कहते हो। किन्तु अब और उपदेश रहने दो। आओ मेरे पास। तुम्हें अपने वक्ष से लगाकर दीर्घकाल से जलते रहने वाले अपने हृदय को शीतल कर लूं।"

एक छोटे-से जलयान में बैठकर पवनंजय और वरुणराज लंकापति के विशाल जलयान में जा पहुँचे। लंकेश्वर ने अपनी विशाल सशक्त भुजाओं में दोनों को एक साथ भेंट कर अपने वक्ष से लगा लिया। अद्भुत था वह मधुर मिलन। आकाश से देवताओं ने पुष्पवृष्टि कर धन्य घड़ी को बधा लिया।

उस दिन लंकापति अपने दीर्घ जीवनकाल में सम्भवतः सबसे अधिक सुखी हुए थे।

उत्सव का दिन बन गया वह। मंगलगीतों की ध्वनि पर महासागर की वे चंचल तरंगें उस दिन झूम-झूमकर खूब नाचीं।

उस मंगल प्रभात का एक छोर था शुभान्त और दूसरा छोर था शुभारम्भ!

शुभान्त था उस भीषण युद्ध का जिसमें अन्याय और अत्याचार के पक्ष ने अपनी पराजय सहर्ष स्वीकार की थी और इस प्रकार न्याय और सत्य के पक्ष की विजय में ही अपनी वास्तविक विजय समझी थी।

शुभारम्भ था इस पवित्र भरतक्षेत्र में उस शुभ भावना का जिसने मानवों के हृदय में निरन्तर एक अन्तःसलिला अमृतनिर्झरिणी के रूप में प्रवाहित रहकर युग-युगों बाद तक भी अत्याचार और क्रूरता की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए सम्राट अशोक जैसे व्यक्ति को भी क्षण मात्र में सत्य और अहिंसा का राजमार्ग दिखाया था।

वह भावना क्या कभी मर सकती है ? नष्ट होना है तो हिंसा को और असत्य को। अहिंसा और सत्य तो सृष्टि के वे स्वयं प्रकाशित, सनातन मूलाधार हैं जो कभी नष्ट हो नहीं सकते।

कलियुग कहा जाता है इस युग को। है भी। किन्तु जिस परमभाव का शुभारम्भ हुआ था उस शुभ प्रभात में वह अन्धकार के गहनतम आवर्तों को भेदकर पुनः पुनः प्रकट होता है ज्योतिर्मय सूर्य की भांति और तब कोई महात्मा मोहनदास गांधी आकर हाथ उठाकर कहता है—अन्याय असत्य है। हिंसा पागलपन है। सत्य और अहिंसा ही जीवन है, धर्म है।

और तब धर्म की इस अपराजेय पुकार के समक्ष समस्त पाशविक शक्तियाँ पराभूत होकर विलीन हो जाती हैं तथा सात-सात महासागरों के आर-पार तक अन्याय के आधार पर टिके उन साम्राज्यों की नींवें हिल जाती हैं। ●

नौ

वह शुभ प्रभात—जब हिंसा ने अहिंसा के समक्ष अपना मस्तक नमा दिया !

वह शुभ घड़ी—जब अधर्म के अंधकार पर धर्म के प्रकाश-पुंज ने अपनी जयध्वजा फहरा दी !

वह अभूतपूर्व विजय-दिवस—जो युग युगान्तरों के लिए एक आदर्श प्रकाश-स्तम्भ बन गया !

सृष्टि का क्रम है, और वह अबाध है। अन्त उस दिवस का भी आना ही था, आया।

जिस सूर्योदय ने उस अभूतपूर्व स्नेह सम्मिलन को देखा था वह उसे मानो देखते ही रहना चाहता था । इस विपुला पृथ्वी के अन्य छोरों की यात्राएँ भुवन भास्कर को करनी थी, किन्तु संध्या हो जाने पर भी वे महा-सागर के उस पार क्षितिज पर ठहरे ही रहना चाहते थे।

किन्तु क्रम कैसे टूटे ? नियम का भंग हो तो सृष्टि का अस्तित्व ही रहे कैसे ?

सूर्यास्त हुआ।

वरुणराज को सप्रेम अपने द्वीप के लिए विदा कर लंकापति सोल्लास पवनंजय के साथ अपनी सोने की लंका में लौट आए। प्रहसित भी उनके संग आ मिला था। उसके बिना पवनंजय को उस मंगल दिवस का अबाध सुख कैसे मिलता ?

वे लोग दूसरे दिन प्रातःकाल ही प्रस्थान कर देना चाहते थे । अब पवनंजय को आदित्यपुर पुकार रहा था। अथवा ठीक-ठीक कहा जाय तो उसे अंजना का निर्मल आकुल अंतर् और आस लगाए बैठीं आसमानी आँखें पुकार रही थीं।

लेकिन लंकापति के प्रेम और आग्रह के कारण उन्हें दो-तीन दिन

रुकना ही पड़ा। उतना समय पवनंजय ने बड़ी कठिनाई से ही व्यतीत किया। लंकापुरी का सौंदर्य दर्शनीय था। रावणराज का प्रेम प्रबल था। किन्तु मनुष्य का मन जब कहीं अन्यत्र होता है तब उसके लिए शेष सभी स्थान शून्य-से हो जाते हैं।

आखिर प्रस्थान की वेला भी आई। लंकापति ने बड़े प्रेम से पवनंजय को आलिंगन में लिया। उनकी आँखें उस समय भीग आई थीं। अपने स्वर्ण-खचित रेशमी उत्तरीय से उन्हें पोंछकर वे बोले—

"कुमार पवनंजय! सकुशल आदित्यपुर पहुँचना। वहां प्रह्लाद राजन् से हमारा सस्नेह अभिवादन कहना और हमारी ओर से आग्रह करना कि वे अब कभी घूमते-फिरते यहाँ भी अवश्य आएँ। अब तक जब-जब भी भेंट हुई है, तनाव की स्थितियों में ही हुई है। किन्तु अब तनाव टूट गया है। हृदय एक अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव कर रहा है। जीवन में इतनी शान्ति कभी जानी ही नहीं थीं। अब जब हम लोग मिलेंगे तब कितनी निश्चिन्तता होगी? कितना सहज सुख प्राप्त होगा? कहोगे न?"

"अवश्य, महाराज! शीघ्र ही कभी इधर आने के लिए मैं उन्हें प्रेरित करूंगा। आपके दर्शन करके उन्हें बहुत प्रसन्नता होगी।"

"हाँ, अब तो प्रसन्नता ही प्रसन्नता है। जादू-सा हो गया लगता है। और यह चमत्कार तुमने किया है पवनंजय! तुम धन्य हो! तुम्हें यहाँ से विदा करने का मन ही नहीं होता किन्तु·····।"

"आपका आशीर्वाद हमारे मस्तक पर बना रहे महाराज! मैं तो आपका बालक ही हूँ। आज जो भी स्थिति बनी है उसका श्रेय आपकी महानता को ही जाता है। आप जैसे ज्ञानी, पुरुषार्थी पूज्यपादों का मार्ग-दर्शन ही हमारा सम्बल है।"—पवनंजय ने विनीत, भाव भरे स्वर में उत्तर दिया।

"तुम स्वयं ही ज्ञानवान्, परम पुरुषार्थी, सुशील युवक हो पवनंजय! हमारा शुभाशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ रहेगा। जीवन-समर में इसी प्रकार विवेक का आधार लेकर आगे बढ़ते रहो, सदैव विजयश्री का वरण करो।"—लंकापति ने एक बार पुनः पवनंजय को भेंटा और उसका मस्तक सूंघ लिया।

पवनंजय एवं प्रहसित लंकापति को प्रणाम कर अपने यान में जा बैठे। यान ने उड़ान भरी और सोने की लंका दूर·····दूर होने लगी।

आदित्यपुर पास.....पास आने लगा।

आशा, आकांक्षा और अनुराग भरा आदित्यपुर।

आदित्यपुर—जहाँ अंजना आस लगाये बैठी होगी—पवनंजय सोच रहा था....

× × × × ×

मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और ही है।

पवनंजय की अभूतपूर्व विजय का समाचार समस्त भरतक्षेत्र में व्याप्त हो चुका था। उसके स्वागत की तैयारियाँ आदित्यपुर में बड़ी धूम-धाम, बड़े जोर-शोर, बड़े उल्लास से हो रही थीं। सारी नगरी को किसी नववधू के समान सजाया जा रहा था। स्थान-स्थान पर द्वार-तोरण-वन्दनवारों की शोभा दर्शनीय हो उठी थी। घर-आंगन नये सिरे से लिपे-पुते और अल्पनाओं से सजे-सँवरे खिले-खिले लग रहे थे। राजमार्ग सुगन्धित जल के छिड़काव तथा पुष्पहारों से उठती हुई सुरभि से गमक रहा था। सारी नगरी आनन्द और उल्लास के सागर में डूबी हुई थी।

क्यों न होता यह उल्लास जन-जन के मन में? उनका प्रिय युवराज अभूतपूर्व विजयश्री का वरण करके लौट रहा था। शस्त्र उसने उठाया नहीं। हिंसा उसने होने नहीं दी। वैर-विरोध के भीषण झाड़-झंखाड़ों को उखाड़ फेंककर उसने वहाँ प्रेम और सह अस्तित्व की सरिता बहा दी थी। कोई सरल कार्य था यह?

आदर्श थी यह कल्पना।

आदर्श था पवनंजय का आचरण।

नगरी से बाहर ही यान उतार लिया गया था। आदित्यपुर के महामंत्री अन्य राजपुरुषों तथा मान्य नागरिकों के साथ वहाँ पवनंजय के स्वागत के लिए उपस्थित थे। सुशोभन, सुसज्जित राजहस्ति प्रस्तुत था। उसने अपने स्वामी की गंध पाकर सूंड़ उठाकर अपना हर्ष प्रकट किया। उसे थपथपाकर कुमार और उसके अभिन्न मित्र प्रहसित हौदे में जा बैठे। अपनी भुवनमोहिनी गति से राजहस्ति ने नगर-द्वार में प्रवेश किया। कानों के पर्दे फट जायँ ऐसा तुमुल जय-जयकार आकाश को थर्राने और पृथ्वी को कँपाने लगा।

अपनी प्यारी जनता का हर्षभरा अभिवादन और घर-घर के द्वारों, वातायनों, छज्जों से होती हुई पुष्पों और अक्षत-कुंकुम की वर्षा की सप्रेम

स्वीकारते कुमार पवनंजय राजप्रासाद की ओर बढ़ चले। केवल प्रहसित ही जानता था कि कुमार का वश यदि चलता तो वे इस समय उस मंगल-मुखी गजराज के स्थान पर अपने प्रिय अश्वराज पर ही आरूढ़ होकर पवनवेग से राजप्रासाद में जा पहुँचते।

राजप्रासाद के सिंहद्वार पर राजा प्रह्लाद और महारानी केतुमति उमंग भरे हृदय से अपने यशस्वी पुत्र का स्वागत करने के लिए खड़े थे। मंगल-आरती सजाए दासियाँ एक ओर उपस्थित थीं। चारों ओर हर्षोल्लास का वातावरण था। क्षण-क्षण आतुर प्रतीक्षा में व्यतीत हो रहा था।

अन्ततः राज-गजराज झूमते-झामते राजद्वार पर आ ही पहुँचा। महावत को कोई संकेत देने की आवश्यकता ही नहीं हुई। वह स्वयं ही अपने पैर मोड़कर भूमि पर बैठ गया। हौदे में से नीचे उतरने के लिए सीढ़ी लगाने की भी आवश्यकता नहीं हुई, यद्यपि चाँदी की सीढ़ी तैयार थी। पवनंजय और प्रहसित स्वयं ही कूदकर नीचे उतर आए और पवनंजय लगभग दौड़ते हुए ही अपने माता-पिता के समीप पहुँच गए। दासी ने मंगल-आरती महारानी के हाथ में थमा दी थी····

यह देखकर पवनंजय आशंकित हुआ। पति के विजयश्री का वरण करके लौटने पर सबसे प्रथम मंगल-आरती तो पत्नी को ही उतारनी चाहिए न ? फिर आरती माता के हाथ में क्यों ? और अंजना कहीं दीख भी तो नहीं रही····

आशा मनुष्य के जीवन का आधार है। बड़े से बड़े संकट और कठिनाई के बीच भी कहीं न कहीं कोई आशा बनी रहती है तो मनुष्य को जीवन के लिए आधार मिलता रहता है। पवनंजय ने भी आशा भरी दृष्टि चारों ओर घुमाई—शायद लज्जा की मारी अंजना माता ओट में खड़ी हो····

किन्तु क्रूर नियति के एक ही थपेड़े की जिस गहन ओट में अंजना जा छिपी थी वहाँ तक पवनंजय की दृष्टि कैसे पहुँच पाती ? चारों ओर खोज-खोजकर वह निराश हो गया। उसका उमंग-उल्लास भरा दमकता चेहरा एकाएक मुरझा गया। अपने पुत्र की चारों ओर कुछ खोजती फिरती दृष्टि और फिर निराशा ही हाथ लगने पर उसके मुरझा गए मुखमंडल को देखकर महाराज और महारानी का हृदय भी धड़क उठा। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि उनसे भूल हो गई है—भयंकर भूल····

आरती का थाल महारानी के हाथ में जैसा का तैसा स्थिर पड़ा रह गया। पवनंजय उनसे दो कदम दूर ही ठहर गया था। आखिर उसने महारानी से पूछा—

"माँ! मेरी अंजना कहाँ है?"

यह एक ही छोटा-सा प्रश्न, अंजना के साथ लगाए गए 'मेरी' विशेषण सहित, महारानी और महाराज की छाती में शूल-सा जाकर धँस गया।

महारानी तो क्षणभर के लिए गहनतम पीड़ा और पश्चात्ताप की अनुभूति से स्तब्ध बनकर विमूर्च्छित ही हो गई। दासियाँ क्षिप्रतापूर्वक उन्हें थामें तब तक आरती का थाल झनझनाता हुआ गिर चुका था····।

त्रिलोक उस झनझनाहट से थर्रा गए थे····

पवनंजय के प्रश्न का उत्तर कौन देता? कौन दे सकता था? वह केवल एक प्रश्न ही होता, तो संभव था कि उसका कहीं कोई उत्तर होता भी। किन्तु वह छोटा-सा प्रश्न तो एक सात्विक प्रेमी के अनुराग भरे हृदय की वह करुण पुकार थी जिसका उत्तर यदि कुछ हो सकता था तो वह था स्वयं अंजना की उपस्थिति। उस अंजना की उपस्थिति जिसे पवनंजय ने अकारण वर्षों की विकराल विरह-वेदना में जलाया था। नहीं कहा जा सकता कि उन क्षणों में पवनंजय कुछ सोच पा रहा था कि नहीं। किन्तु यदि वह कुछ सोच रहा होगा तो यही कि अनर्थ हो गया है। पाप हो गया है। अंजना जैसी सुशीला सती-साध्वी नारी के साथ किए गए इस क्रूरतम व्यवहार के पाप का प्रक्षालन क्या कभी संभव हो सकेगा?

महारानी केतुमति मूर्च्छित थी।

महाराज प्रह्लाद मूक, स्तब्ध थे।

पवनंजय पाषाणवत् जड़ित खड़ा था।

स्थिति विषम हो गई थी। उसे सम्हालने का प्रयास करते हुए वयोवृद्ध महामंत्री ने दासियों को महारानी को भीतर ले जाकर उपचार करने का संकेत किया और साहस करके वे बोले—

"कुमार की जय हो! आप आश्वस्त हों कुमार! भीतर पधारें।"

पवनंजय की जड़ता में कुछ चैतन्य जागा। उन्होंने स्थिर, तीव्र दृष्टि से महामंत्री की आँखों में सीधे झाँकते हुए पूछा—

"मेरे प्रश्न का उत्तर, महामंत्री जी?"

क्षण-दो क्षण के लिए फिर भीषण महामौन छा गया। किन्तु किसी प्रकार प्रयास करके महामंत्री ने कहा—

"कुमार ! आप भीतर तो पधारें !"

"अंजना भीतर है ?"

"अ ऽ ऽ नहीं, कुमार, बेटी अंजना भीतर तो नहीं है····"

"कहाँ है तब ?"

"कुमार ! क्षमा कीजिए, आप भीतर·····"

"मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए महामंत्री जी !"—वज्रशिला जैसे कठोर स्वर में पवनंजय ने कहा।

महाराज प्रह्लाद की आँखों से झर-झर आँसू ढुलक पड़े। दासियों ने उन्हें थाम लिया था, वरना वे भी शायद गिर ही पड़े होते।

पवनंजय की मुद्रा तथा स्वर साफ-साफ कह रहे थे कि वह अपने प्रश्न का उत्तर लिए बिना तिलमात्र भी अपने स्थान से हिलेगा नहीं। वृद्ध महामंत्री ने यह भली प्रकार समझ लिया। विवश, विकल स्वर में वे बोले—

"कुमार ! भाग्य ही बलवान है, ऐसा प्रतीत होता है। सचमुच अनर्थ ही हो गया है कुमार ! अब दिखाई दे रहा है कि अंजना पवित्र, निर्दोष, निष्कलुष थी। किन्तु हम लोगों की बुद्धि पर पत्थर पड़ गए थे कुमार ! क्षमा कीजिए। आप विवेकवान धीर पुरुष हैं। कृपया धैर्य धारण कीजिए। बेटी अंजना महेन्द्रपुर गई थी, किन्तु····किंतु....वह वहाँ भी नहीं है.... !"

"गई थी या निकाल दी गई थी महामंत्री जी ?"

"कुमार....!"

"मैं समझ गया महामंत्री जी ! किन्तु क्या उसने मेरी मुद्रिका आप लोगों को नहीं बताई थी ?"

"बताई थी कुमार·····"

"और आप लोगों ने उस पवित्रात्मा का विश्वास नहीं किया। यही न ?"

"कुमार····!"

कुमार पवनंजय ने आगे कुछ सुना नहीं। एक झटके के साथ वह घूमा और लगभग चीखते हुए स्वर में पुकारा—

"प्रहसित !"

प्रहसित समीप ही खड़ा था। किन्तु आकुल-व्याकुल पवनंजय को वह दिखाई नहीं दिया था। अब उसने आगे बढ़कर कुमार का हाथ थाम लिया। जो कुछ घटित हुआ था वह सब देखकर वह भी स्तम्भित, व्याकुल था। किन्तु वह भी विवेकवान व्यक्ति था। जो हो गया, वह तो हो ही गया —अब आगे सम्हालना चाहिए ? उसके अन्तर् में बसे हुए सच्चे मित्र का कर्त्तव्य-बोध जागृत था।

कुमार का हाथ थामकर उसने इतना ही कहा—

"पवन ! मेरे मित्र !"

पवनंजय तेजी से आगे बढ़ा। चलते-चलते ही उसने कहा—

"चलो प्रहसित !"

आत्मीय मित्रों के बीच अधिक शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। पवनंजय के अभिप्राय को प्रहसित ने सहज ही समझ लिया था। चल पड़ा।

अश्वशाला तक जाकर पवनंजय अपने अश्व पर एक ही उछाल में सवार हो गया। आत्मीय अश्व भी अपने स्वामी के सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संकेतों और भावों को समझता था। स्वामी के सवार होते ही अश्व हवा में उड़ने लगा।

प्रहसित भी अपने अश्व पर सवार पवनंजय से पीछे नहीं था। जीवन-मरण का साथी सच्चा सुहृद पीछे रह भी कैसे सकता था ?

× × × × ×

टपाटप....टपाटप....टपाटप....

आदित्यपुर के जिस सजे-धजे, आनन्दोल्लास में डूबे राजपथ से कुमार पवनंजय का राजगजराज मस्ती में झूमता-झूमता गया था, उसी राजमार्ग से आदित्यपुर के निवासियों ने जब कुमार और उसके अभिन्न मित्र प्रहसित को अपने-अपने अश्वों पर सवार होकर इस प्रकार प्रभंजन की गति से लौटकर जाते हुए देखा तो उन्हें भी समझने में देर नहीं लगी कि क्या हुआ होगा। सारी दुनिया जानती थी कि अंजना को निर्वासित किया गया था। उसने अपनी निर्दोषिता की दुहाई दी थी, किंतु किसी ने सुना नहीं था। और अब जब लम्बे अन्तराल के बाद, लम्बी यात्रा करके कुमार विजयश्री का वरण करके लौटे तो घड़ी भर के भीतर ही भीतर जब वे और उनका

मित्र इस प्रकार पलटकर दौड़ पड़े हैं तो उसका क्या अर्थ हो सकता है यह किसी को समझाने की आवश्यकता ही नहीं थी।

उल्लास, उमंग, आनन्द के शिखर पर झूम-झूम कर नाच रही आदित्यपुर नगरी जैसे सहसा हुए भूडोल से भरभराकर धराशायी हो गई।

उस नगरी को देखते-देखते ही बहुत पीछे छोड़कर सुदूर वन प्रांतर में पहुँचकर पवनंजय ने अपने अश्व की गति को धीमा किया। प्रहसित ने कुछ और समीप होकर पवनंजय से कहा—

"पवन ! तुम्हें कुछ उपदेश नहीं दूंगा। जो हो गया, वह तो हो ही गया। अब हमें अविलम्ब भाभी को खोज निकालना है। हिम्मत नहीं हारोगे। भाभी की अचल श्रद्धा का स्मरण रखना। प्रभु की कृपा के प्रति वही अचल श्रद्धा हम सबमें होनी चाहिए न ? तो बोलो, किधर चला जाए ? महेन्द्रपुर···· ?"

"किंतु प्रहसित, मेरे मित्र, वह वहाँ तो नहीं है....।"

"उस मार्ग से तो गई है। हमें उसी मार्ग की खोज करनी है न, जिस मार्ग से भाभी गई है ? वही मार्ग तो हमें उन तक पहुँचा सकेगा। अन्य उपाय क्या है ?"

"ठीक कहते हो"—पवनंजय ने सोचते हुए कहा—"अन्य उपाय भी क्या है ?"

दोनों मित्रों के अश्व महेन्द्रपुर की दिशा में बढ़ चले।

× × × × ×

नगर के बाहर सघन अमराई में पवनंजय ने अपने अश्व को रोक लिया। दोनों मित्र उतर पड़े। पवनंजय ने कहा—

"प्रहसित ! मेरा चलना निरर्थक है। मुझे सहन भी नहीं होगा। तुम्ही जाओ और पता लगाकर आओ कि क्या हुआ ? कहाँ गई होगी अंजना ?"

"ठीक है पवन ! तुम यहाँ विश्राम करो। स्थान सुरम्य है। मैं यथा-शीघ्र लौट आऊँगा।"—कहकर प्रहसित पुनः अपने अश्व पर सवार होकर नगर की ओर चल पड़ा।

वह सीधा राजप्रासाद में पहुँचा। राजा महेन्द्र को जब सूचना मिली

तो वे शीघ्रता से उसे लेने अपने कक्ष के द्वार तक जा पहुँचे। वे जानते थे कि प्रहसित उनके दामाद पवनंजय का अभिन्न मित्र है। उसका स्वागत करते हुए वे बोले—

"आओ, प्रहसित आओ! स्वागत है। सब कुशल-मंगल तो है न? कुमार पवनंजय कैसे हैं? कहाँ हैं? महाराज प्रह्लाद और महारानी केतुमति जी भी स्वस्थ—सानन्द हैं न? आदित्यपुर में सब ठीक है न? आओ, भीतर तो आओ पहले।"

प्रहसित का हाथ पकड़कर राजा महेन्द्र भीतर आए और आसन पर बैठ जाने के बाद उन्होंने फिर कहा—

"हाँ, अब कहो प्रहसित, क्या समाचार हैं? अरे कोई है....." उन्होंने पुकारा और प्रतिहार के उपस्थित होने पर आदेश दिया—"प्रहसित कुमार के लिए जलपान .....।"

"ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रणाम स्वीकार कीजिए। सब कुशल है। अर्थात्, जो हो सकता है....।"

प्रहसित जब से आया उसकी मुखमुद्रा गंभीर थी। और वह अकेला ही था, जबकि कुमार और वह शरीर और छाया की तरह सदैव साथ ही रहते थे। यह सब देखकर राजा महेन्द्र का माथा कुछ ठनक तो गया था किन्तु वास्तविकता का ठीक ज्ञान उन्हें अभी नहीं था। उन्होंने शंकित हृदय से पूछा—

"प्रहसित, कोई विशेष बात है क्या? तुम गंभीर हो। कुमार पवनंजय कहाँ हैं?"

"राजन्! अनर्थ हो गया है। और यदि भाभी अंजना—कल्याणी देवी अंजना का पता शीघ्र ही न लग सका तो सर्वनाश हो जाने की आशंका है।"

राजा महेन्द्र आशंकित तो हुए थे, किन्तु अब उन्हें यथार्थ का ज्ञान भी प्रहसित की उपस्थिति, पवनंजय की अनुपस्थिति तथा प्रहसित के इस एक ही वाक्य से हो गया। उनकी छाती पर मानो कोई वज्रशिला आ गिरी। वे स्तब्ध, जड़वत् प्रहसित की ओर देखते ही रह गए।

महारानी हृदयसुन्दरी भी प्रहसित के आगमन की सूचना मिलते ही उस कक्ष की ओर चल पड़ी थीं जहाँ वे और प्रहसित थे। अन्तःपुर की ओर से इस कक्ष में खुलने वाले द्वार से प्रविष्ट होकर वे वहाँ पहुँच चुकी

थीं और उन्होंने भी प्रहसित के कथन को सुन लिया था। यह जानकर कि अनर्थ हो गया है, अर्थात् अंजना ने असत्य नहीं कहा था, वह निर्दोष थी, उसके साथ भीषण अत्याचार हुआ है, ससुराल वालों की ओर से अपमानित किए जाकर निकाल दिए जाने के बाद अपनी ही कोख से जायी लाड़ली बेटी को उन्होंने भी आश्रय नहीं दिया, दुत्कार कर भगा दिया—हे भगवन् यह क्या हो गया " क्या हो गया प्रभो !·····

सिर थामकर वे एक आसन पर गिर पड़ी। दासियों ने उन्हें दौड़कर सम्हालने का यत्न किया।

किन्तु समय पंख लगाकर उड़ रहा था। क्षण-क्षण मूल्यवान था, अतः प्रहसित ने अपनी भावनाओं को सायास अधिकार में रखते हुए राजा महेन्द्र से कहा—

"राजन् ! अब तो आप जान ही गए कि देवी अंजना किसी दीपशिखा सी पवित्र हैं। समय भाग रहा है। अब तक जाने क्या कुछ न हुआ हो ? जो कुछ हो गया उस पर विचार करते हाथ पर हाथ धरकर बैठकर रोने-पछताने से तो कुछ होगा नहीं। आप भी धैर्य धारण कीजिए। मैं यही जानने के लिए आया हूँ कि देवी अंजना यहाँ से किधर गईं ? कृपया एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देकर समस्त उपलब्ध सूचनाएँ प्रदान करें।"

अंजना के पिता अपना सिर पीट लेना चाहते थे—काश, उन्होंने अपनी बेटी में पूर्ण विश्वास होने का साहस प्रकट किया होता ! काश, उन्होंने झूठी लोकलाज को ठोकर मारकर अपनी पवित्र, पुण्यशीला बेटी को छाती से लगा लिया होता·····काश ! ····काश !·····काश !

समय की गंभीरता को उन्होंने समझा। अपने दुःख और पश्चात्ताप को अपने हृदय को सुलगाते रहने के लिए भीतर ही दबा दिया। वे उठे और प्रहसित का हाथ पकड़कर लगभग उसे घसीटते हुए-से ही बोले—

"आओ मेरे साथ प्रहसित ! सचमुच प्रत्येक क्षण अमूल्य है। हमें भूतपूर्व महामंत्री के आवास तक चलकर उनके सारथी से ही पूछना होगा कि वह उन्हें कहाँ छोड़ आया था ? उन्होंने क्या कहा था ? आओ।"

राजा महेन्द्र की आँखों में अब अंजना ही अंजना दिखाई दे रही थी। संसार के शेष सब व्यापार जैसे वे भुला बैठे थे। भूल गए कि प्रहसित ने जलपान भी नहीं किया है। ध्यान नहीं दिया कि महारानी संभवतः मूर्च्छित हो गई है। कक्ष के द्वार के बाहर आकर उन्होंने उपस्थित सेवकों को आदेश दिया—

"मंत्रिवर को अविलम्ब हमारा आदेश दो कि चारों दिशाओं में महेन्द्रपुर के समस्त सैन्य सहित छा जायँ। आसमुद्र चप्पा-चप्पा भूमि को छान डालें। कोई ग्राम, नगर, वनखंड....एक इन्च भूमि भी शेष न रहे—समस्त भरतखंड को उलट दें—जहाँ से भी हो, हमारी बेटी को खोजकर लाएँ। जाओ ऽ ऽ ऽ। हमारा अश्व ?"

अश्व अविलम्ब आ गया। वे कूदकर उस पर सवार हो गए। प्रहसित भी अपने अश्व पर सवार हो चुका था। दोनों वृद्ध महामंत्री की हवेली की ओर तीव्र गति से चल पड़े।

घोड़े दौड़ाते हुए ही महाराज ने प्रहसित से कुमार पवनंजय के बारे में पूछ लिया। उस सारथी को खोजकर उसे अपने अश्व पर सवार करा-कर वे तीनों शीघ्र ही उस अमराई में आ पहुँचे जहाँ पवनंजय विश्राम के नाम पर पल-पल बेचैनी से प्रहसित की प्रतीक्षा कर रहा था।

परस्पर अभिवादन मौन ही हो गया।

केवल सारथी ने पवनंजय को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—

"मैं आपको उस स्थान तक ले चलूँगा कुमार, जहाँ से महामंत्रीजी ने मुझे वापस लौटा दिया था। आज्ञा ?'

आज्ञा की आवश्यकता ही क्या थी ? पवनंजय कूदकर अपने अश्व पर सवार हो चुका था। महाराज महेन्द्र की ओर देखते हुए उसने कहा--

"विदा ! महाराज ! जीवित रहे तो मिलेंगे।"

"क्या कहते हो कुमार ! ऐसा क्यों कहते हो ? जिनेश्वरदेव की कृपा से सब ठीक होगा। और विदा का प्रश्न भी कहाँ है ? मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ।"

"नहीं महाराज ! यह संभव नहीं। आप अपने प्रयत्न जारी रखिए। स्वयं महेन्द्रपुर में ही रहिए। क्या जाने कब, किसे, कहाँ उसका पता लग जाय और वह यहाँ आ पहुँचे। उस समय आपका यहाँ उपस्थित रहना ही ठीक होगा। आपने खोज प्रारंभ तो कर ही दी होगी ?"

"चारों दिशाओं में कुमार ! आकाश-पाताल एक कर दिया जायगा....।"

"बस ठीक है। आप यहीं केन्द्र में रहकर प्राप्त होने वाली सूचनाओं के आधार पर खोज को आगे बढ़ाते रहिए। वही उचित होगा।"

फिर एक फीके-से उदास स्वर में उसने इतना और जोड़ दिया—"और अंजना की खोज तो अब पवनंजय को ही करनी होगी न? अभिवादन!"

इतना कहकर पवनंजय ने अपने अश्व को एड़ लगाई और तीन अश्वारोही जंगल की उस दिशा में द्रुतगति से चल पड़े जिधर किसी दिन एक अभागा रथ गया था।

महाराज महेन्द्र ठगे-से खड़े रह गए।

पवनंजय का आखिरी वाक्य—अंजना की खोज तो पवनंजय को ही करनी होगी न?—उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा। उस वाक्य के भीतर छिपे मर्म से वे मर्माहत-से हो गए थे।

× × × × ×

महेन्द्रपुर की सीमा पर वे लोग उस स्थान पर जब पहुँच गए जहाँ से महामंत्रीजी ने सारथी को लौटा दिया था, वहाँ रुककर सारथी ने कहा—

"कुमार, यही वह स्थान है जहाँ मैंने अन्तिम बार देवी अंजना के दर्शन किये थे। महामंत्री ने मुझे यहीं से महेन्द्रपुर लौट जाने का आदेश दिया था। प्रभु! इसके बाद मैं नहीं जानता कि वे लोग किस दिशा में, किधर गए होंगे। महामंत्री जी ने मुझे अपने साथ जाने ही नहीं दिया।"—कहते कहते उसकी आँखें डबडबा गईं।

पवनंजय ने उसके कंधे पर हाथ रखकर उसे आश्वासन देते हुए कहा—

"बन्धु! तुमने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। उनकी आज्ञा का पालन करना ही तो तुम्हारा कर्त्तव्य है न? अब तुम वापस लौट जाओ, हम आगे बढ़कर अपनी खोज जारी रखेंगे।"

"कुमार! क्या आप भी मुझे अपने साथ नहीं चलने देंगे? क्या मैं इस योग्य भी नहीं हूँ? आप जंगल-जंगल भटकेंगे, जाने कितना कष्ट उठाना पड़ेगा? मुझे कुछ सेवा का अवसर नहीं देंगे?"—सारथी ने बड़ी आशा के साथ कहा।

"बन्धु! हम तुम्हारी भावना का मूल्य समझते हैं। किन्तु फिर भी हम यही कहेंगे कि तुम अब घर लौट जाओ। यह तपस्या अकेले पवनंजय को ही करने दो। जाओ बन्धु, जीवित रहे तो फिर मिलेंगे।"

सारथी उदास मन से लौट गया।

किन्तु पवनंजय के मुख से बार-बार ये शब्द सुनकर कि जीवित रहे तो फिर मिलेंगे, प्रहसित को अच्छा नहीं लग रहा था। सारथी के चले जाने पर प्रहसित कुमार के समीप आया और उसने कहा—

"पवन ! मेरी एक बात ठीक-ठीक समझ लो। किसी भी कार्य के आरम्भ में ही यदि मनुष्य के मन में आस्था और विश्वास न हो तो कार्य-सिद्धि यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती है। तुम जैसा धीर-वीर पुरुष भी यदि इस प्रकार निराश-हताश-सा होकर चलेगा तो क्या होगा ? क्या तुम्हें अपने ही प्रेम में विश्वास नहीं ? क्या तुम नहीं जानते कि प्रभु की कृपा अनन्त है ? और सबसे बड़ी बात यह कि क्या तुम्हें अब भी अंजना भाभी के पवित्र, पुण्य चरित्र में श्रद्धा नहीं ?"

"क्या कहते हो प्रहसित ! वह तो सती, सन्नारी है। नारी-रत्न है। देवी है.....।"

"तो फिर हताश-से क्यों दीखते हो ? ऐसी बातें क्यों कहते हो ? ऐसी पुण्यशीला देवी का कोई अमंगल विधाता भी नहीं कर सकते। यह मेरा दृढ़ विश्वास है। निश्चय ही उस देवी ने हम सबके पूर्वजन्म के पाप-कर्मों के कारण घोर दुःख उठाए हैं। अनेक विपत्तियों का सामना भी उन्हें करना ही पड़ा होगा। जंगल-जंगल वे भटकी होंगी, भूखी और प्यासी। उनकी कोमल काया छिल-छिलकर छलनी भी बन गई होगी। यह सब मैंने माना। किन्तु मुझे फिर भी विश्वास है कि देवताओं ने उनकी रक्षा की होगी। और वे कहीं न कहीं सुरक्षित होंगी। यदि ऐसा न हुआ तो प्रहसित की धर्मश्रद्धा के समस्त आधार ढह जाएँगे। प्रहसित कहेगा कि धर्म केवल एक शब्द मात्र है। ऐसी स्थिति में प्रहसित क्या करेगा यह कहा नहीं जा सकता।"

पवनंजय ने देखा कि इतने विवेकपूर्ण विचार-पूर्वक जीवन-व्यवहार करने वाला उसका अनन्य, अभिन्न मित्र प्रहसित भी अन्ततः भावुक होने ही लगा है। उसने अपने मित्र की विचारधारा को रोकते हुए कहा—

"प्रहसित ! तुम ठीक कह रहे हो। अंजना इतनी पवित्र है, उसकी आत्मा इतनी निर्मल, निष्कलुष, निश्छल, निष्पाप है कि उसका कोई अमंगल हो ही नहीं सकता। अच्छा चलो, अब मैं निराशा की बातें नहीं करूँगा। आगे बढ़ें। जाने किन विषम परिस्थितियों में पड़ी अंजना कितनी आतुरता से हमारी प्रतीक्षा कर रही होगी।"

× × × ×

आदित्यपुर तथा महेन्द्रपुर का समस्त सैन्य तथा कुशल से कुशल गुप्तचर दिशा-दिशा में छा गए थे और अंजना की खोज कर रहे थे। अपने प्रिय कुमार के दुःख में सहभागी होकर सैंकड़ों-हजारों की संख्या में युवा नागरिक भी स्वेच्छा से इस खोज में सम्मिलित हो गए थे।

भूख, प्यास, थकान की चिन्ता किये बिना पवनंजय और प्रहसित भी रात-दिन एक करते हुए डगर-डगर, ग्राम-नगर, जंगल-जंगल भटक रहे थे। किन्तु कोई पता लग नहीं रहा था। धीरे-धीरे पवनंजय के आकुल अन्तर् में निराशा ने फिर से अपनी काली छाया डालनी आरम्भ करदी थी। किन्तु वह उसे प्रकट किए बिना आगे से आगे ही बढ़ता चला जा रहा था। बीच-बीच में घूम-फिरकर घनघोर वनों की इंच-इंच भूमि वे दोनों मित्र छाने डाल रहे थे। अन्धेरी कन्दराओं, घाटियों और सघन निकुञ्जों में भी वे निर्भय धँस जाते थे। ऐसा लगता था कि प्राणों की चिन्ता क्या, प्राणों का विचार तक भी उनके मन से निकल चुका था। केवल एक ही विचार, एक ही लक्ष्य उनकी दृष्टि में था—देवी अंजना की खोज।

आखिर एक दिन ऐसा भी आया कि पवनंजय भूख, प्यास, थकान, निरन्तर जागरण और अत्यधिक श्रम के कारण अस्वस्थ हो गया। शरीर से भी, मन से भी। ऐसा लगता था कि उसकी देह भी टूट गई है और हृदय भी। तीव्र ज्वर से उसका शरीर तप रहा था, सन्निपात की स्थिति में वह असंबद्ध बातें करने लगा—प्रहसित ! तू मेरा मित्र नहीं·····शत्रु है.... तूने अंजना को क्यों जाने दिया····अंजना····अंजना····यह प्रहसित शैतान···· इसने तुझे रोका क्यों नहीं····इसने मुझे समझाया क्यों नहीं····इसने पिताजी को बताया क्यों नहीं·····इसने मां को बताया क्यों नहीं····यह भी चोर है ····मैं भी चोर हूँ····हम दोनों ने मिलकर तुझे लूट लिया अंजना ! देवी ! क्षमा....क्षमा....

प्रहसित ने एक सघन कुञ्ज की शीतल छाया में सुकोमल पत्तों की शय्या बनाकर पवनंजय को उस पर लिटा दिया था। अपने फटे हुए उत्तरीय का एक छोर फाड़कर समीप ही बहते झरने के शीतल जल में उसे भिगोकर वह गीला वस्त्र उसने पवनंजय के जलते हुए मस्तक पर रख दिया था। प्रेम से एक हाथ उसके मस्तक और दूसरा उसके वक्ष पर रखकर वह कह रहा था—

"पवन ! मेरे सुहृद ! मेरे प्रिय ! शान्त रहो। तुम्हें ज्वर हो आया है। अभी कुछ न कुछ उपचार करता हूँ। सब ठीक हो जायगा, मित्र ! इस प्रकार हिम्मत नहीं हारना चाहिए····"

"हार गया"""हार गया। पवनंजय हार गया....अंजना जीत गई। अंजना चली गई। पवनंजय मर गया....मर गया पवनंजय ...प्रहसित, इस पवनंजय के भूत से तुझे डर नहीं लग रहा ...यह पवनंजय का भूत है प्रहसित....इसने अंजना को खा लिया....

प्रहसित ने अपना हाथ पवनंजय के मुँह पर रखते हुए कातर स्वर में कहा—"ऐसा न कहो, ऐसा न कहो पवन ! अशुभ बातें मुँह से नहीं निकालनी चाहिए। भगवान की कृपा से सब शुभ होगा, मेरे मित्र ! साहस रखो, मैं जो तुम्हारे साथ हूँ।"

"अब क्या शुभ होगा प्रहसित"""गई, चली गई; वह शुभा"""वह कल्याणी"""वह देवी तो चली गई"""हमने उसे मार डाला"""पवनंजय हत्यारा है"""पवनंजय हत्यारा है""""।

सन्निपात के आवेश में वह उठ बैठा और अपने बचे-खुचे उत्तरीय को उसने फाड़कर फेंक दिया। किन्तु उस निर्बलता की स्थिति में इतना श्रम भी उसे भारी पड़ा। वह पुनः निढाल होकर अपनी पत्तों की शय्या पर लुढ़क गया। प्रहसित ने पट्टी फिर से गीली करके उसके मस्तक पर रखी। पवनंजय कुछ शान्त दिखाई दिया। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वह सो जाना चाहता हो।

यह देखकर प्रहसित ने कहा—

"पवन ! मेरे अच्छे पवन ! अब तुम थोड़ी देर शान्ति से सो जाओ। बहुत थक गये हो। थोड़ा विश्राम मिलेगा, कुछ नींद आ जाएगी तो तुम्हारा ज्वर उतर जाएगा। तब तक मैं आस पास से कोई जड़ी-बूटी खोजकर ले आता हूँ। सो जाओ, पवन, मैं अभी आता हूँ।"

पवनंजय आँखें बन्द करके चुपचाप पड़ा था, यद्यपि उसका श्वासोच्छ्वास अब भी बहुत असंतुलित था। प्रहसित शीघ्रता से जड़ी-बूटी की खोज में सघन वन में धँस गया। अपने मित्र की इस संकटापन्न सूचक शारीरिक और मानसिक स्थिति से वह भीतर ही भीतर बहुत चिन्तित था।

प्रभावी औषध की खोज में प्रहसित को थोड़ी देर लग गई होगी। इस बीच पवनंजय की तन्द्रा टूट गई और वह पहले से भी अधिक विकलता का अनुभव करने लगा। सन्निपात की स्थिति में ही वह उठ बैठा और बिना कुछ सोचे-समझे ही किसी एक दिशा में लडखड़ाता, बड़बड़ाता हुआ चल दिया। उस समय उसे देखकर ऐसा लगता था कि जैसे उसे किसी भी बात का भान नहीं रहा है। तीव्र ज्वर ने उसकी बची-खुची शक्ति को

भी निचोड़ लिया था। अतः वह अधिक दूर जा भी नहीं पाया था कि झाड़-झंखाड़ों और कंकर-पत्थरों से भरे उस स्थान पर वह किसी पत्थर से टकरा कर गिर पड़ा। गिरते समय उसका मस्तक एक शिला से टकराकर फट गया। रक्त का फव्वारा फूट पड़ा और वह पूर्णतः मूर्च्छित हो गया।

भाग्यवशात् प्रहसित उसी समय लौट आया और उसी दिशा से उसी स्थल पर आया जहाँ पवनंजय मूर्च्छित पड़ा था। उसका हृदय अपने मित्र की यह स्थिति देखकर धक् से रह गया। दौड़कर उसने पवनंजय के मस्तक के घाव को देखा और बचे-खुचे उत्तरीय से भीगी पट्टी बनाकर उसे कसकर उसने पवनंजय के मस्तक पर बाँध दिया। फिर बड़ी सावधानी से उसे उठाकर वह उसे पुनः उसी स्थान पर लाया जहाँ उसने शय्या बनाकर पहले लिटाया था। उसी शय्या पर उसने पवनंजय को फिर से लिटा दिया और शीघ्रतापूर्वक झरने के किनारे जाकर किसी चट्टान पर वह उन जड़ी-बूटियों को रगड़ने लगा जो वह जंगल में से खोज-खाजकर लाया था।

प्रहसित अदम्य श्रद्धावान व्यक्ति था। उसे पूरा भरोसा था कि पाप-कर्मों के इस उदय का अस्त भी होगा और अंजना मिलेगी, सुरक्षित, सकुशल। सब कुछ ठीक हो जायगा एक दिन। तब तक जो कष्ट-सहन भाग्य में लिखा है वह तो भोगना ही होगा।

इतनी अखंड श्रद्धा और विश्वास के होते हुए भी उस घड़ी वह बहुत चिन्तित हो गया था। कुमार की स्थिति अत्यन्त विषम थी। रोग का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। उसके चिन्ताकुल मस्तिष्क में अब रह-रह कर ये विचार अपना सिर उठाने ही लगे थे कि हे ईश्वर ! हे जिनदेव ! अब तो सीमा हो गई। आपकी असीम कृपा की किरण कब उतरेगी ?

जड़ी-बूटियों से कोई रस तैयार करके ढाक के पत्तों के एक दोने में लाकर वह बड़ी सावधानी से उस रस को थोड़ा-थोड़ा करके पवनंजय के मुख में टपकाने लगा। ज्यों-ज्यों वह रस पवनंजय के गले में उतरता जा रहा था, प्रहसित बड़ी आशा से बिना पलक झपकाए पवनंजय के मुख का अध्ययन करता जा रहा था—मूर्च्छा टूटनी चाहिए थी। उसके आत्मीय मित्र को होश आना चाहिए था। ज्वर का ताप कम होना चाहिए था····

क्षण बीतते चले गए····

पवनंजय की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया।

प्रहसित निराश होने लगा—आशा और विश्वास का धनी प्रहसित भी अपने जीवन-मरण के साथी परम सुहृद कुमार पवनंजय की यह दुर्दशा देखकर अन्ततः निराश होने लगा।

प्रश्न वस्तुतः जीवन-मरण का ही उपस्थित हो गया था।

अपनी गोद में पवनंजय का सिर रखे प्रहसित एक-एक करके औषध की बूँदें उसके मुख में टपका रहा था और णमोकार मंत्र का अखंड जाप कर रहा था। दृष्टि उसकी पवनंजय के मुख पर स्थिर थी, हृदय उसका प्रभु के चरणों में लीन था।

उसी समय निकुञ्ज की लता-वृक्षों की टहनियाँ हिलीं, हटीं और प्रहसित ने देखा—ठीक मुनि तो नहीं, किन्तु मुनि जैसी ही दिखाई देने वाली एक भव्य पुरुषाकृति समक्ष खड़ी थी। वस्त्र मुनियों के नहीं थे, किन्तु श्वेत सामान्य अधोवस्त्र एवं उत्तरीय उस पुरुष ने धारण किये हुए थे। जटाएँ भी नहीं थीं, किन्तु लम्बे, श्वेत बाल पीठ तक चले गए थे। श्वेत मूँछों ने आधा मुखमंडल तथा लम्बी दाढ़ी ने सारा वक्ष ढक रखा था। ललाट विशाल और दैदीप्यमान था। वृद्धावस्था के उपरान्त भी उस पुरुष की काया शक्तिशाली प्रतीत होती थी।

उस भव्य पुरुष-पुंगव को अचानक उस बीहड़, एकान्त वन में, उस विषमतम परिस्थिति में अपने समक्ष देखकर प्रहसित को लगा कि जैसे प्रभु ने उसकी प्रार्थना सुन ली है और अवश्य ही देवता उस भव्य पुरुष के रूप में वहाँ उपस्थित हुए हैं।

उसका मस्तक सहज ही प्रणाम की मुद्रा में उनके समक्ष नत हो गया।

उस व्यक्ति ने एक दृष्टि पवनंजय और प्रहसित पर डाली। पवनंजय के मस्तक पर बंधी पट्टी रक्त से भीगी हुई थी। उसका चेहरा ज्वर से तपकर लाल हो रहा था। यह देखकर उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि गोद में लेटे हुए मूर्च्छित व्यक्ति की स्थिति विषम है। वे लोग कौन होंगे, कैसे इस विकट वन में आ पहुँचे होंगे, यह सब कुछ सोचने तक का समय नहीं था, पूछना तो दूर की बात थी।

शीघ्रतापूर्वक वे समीप आए, प्रहसित के समीप बैठकर उन्होंने पवनंजय के शरीर को छूकर देखा, मस्तक पर आहिस्ते से हाथ रखा और अपनी आँखें उन्होंने मूँद लीं। वे ध्यानमग्न हो गए।

उस भव्य पुरुष का व्यक्तित्व ही ऐसा था कि प्रहसित मात्र उन्हें देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सका। उसकी अन्तरात्मा कह रही थी कि अन्ततः अशुभयोग की समाप्ति हो गई है। उन देवोपम पुरुष का वहाँ इस प्रकार अचानक, ठीक समय पर आ पहुँचना इस विश्वास के लिए पर्याप्त आधार थे।

पवनंजय के सिर को अपनी गोद में रखे वह मौन ही बना रहा। स्थिर। आगन्तुक व्यक्ति का हाथ पवनंजय के सिर का स्पर्श कर रहा था नेत्र निमीलित थे, ध्यान—ध्यान उनका कहाँ था यह तो वे ही जानें, जो सब कुछ जानते हैं।

हम इतना ही जानते हैं कि घड़ी-अर्ध-घड़ी भी व्यतीत हुई होगी न हुई होगी कि पवनंजय का ज्वर उतर गया और उसने अपनी आँखें खोलीं। कुछ क्षण वह कभी प्रहसित और कभी उस देव-पुरुष को चुपचाप देखता रहा। प्रहसित का हर्ष अतिरेक पर पहुँच गया। वह अधिक प्रतीक्षा न कर सका। बोला—

"पवन ! पवन ! मेरे मित्र ! अब तुम ठीक हो न ? देखो, मैं न कहता था कि सब कुछ ठीक हो जायगा ? और देखो, तुम्हारा ज्वर भी चला गया तुम अब स्वस्थ हो। परमात्मा...." इतना कहते-कहते उसे ध्यान आया कि आगन्तुक पुरुष का धन्यवाद भी करना चाहिए, जिनकी उपस्थिति ने उसके मित्र के प्राण बचाये थे। अतः उसने कहा—"परमात्मा की कृपा ने इन देवता को यहां भेज दिया पवनंजय और तुम स्वस्थ हो गए।"

वह व्यक्ति पवनंजय का नाम सुनते ही चौंक पड़ा। फिर एक अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति से उसका हृदय भर गया। उसने संकेत किया और प्रहसित मौन हो गया। तब पवनंजय ने बहुत धीमे, अशक्त स्वर में पूछा—

"प्रहसित ! मुझे क्या हो गया था ? हम कहाँ हैं ? ये महात्मन् कौन हैं ?"

उत्तर के रूप में पवनंजय ने जो कुछ सुना वह यह था—

"कुमार पवनंजय ! बेटी अंजना सकुशल है।"

यह सुनते ही पवनंजय प्रहसित की गोद छोड़कर एकाएक उठ बैठा। कहने लगा—

"महात्मन् ! महात्मन् ! मेरी अंजना.....।"

"हाँ, कुमार, वह सकुशल है। आप चिन्ता न करें। आपको मेरे

कथन पर विश्वास तो होगा ही न ? अब आप उत्तेजित न हों । आप अभी-अभी तीव्र ज्वर से मुक्त हुए हैं । आपके मस्तक से रक्त भी काफी बह चुका है । आपको कुछ समय के लिए पूर्ण विश्राम की बहुत आवश्यकता है.... ।"

"नहीं नहीं, महात्मन् ! विश्राम कैसा ? अंजना जाने किस स्थिति में होगी ? उसने कितना कष्ट सहा है....।"

"मैंने कहा न कुमार, कि वह सकुशल है, सुरक्षित है । यह तो कैसे कहूँ कि सानन्द भी है ? आप जैसे विवेकवान व्यक्ति को यह बताने की आवश्यकता तो नहीं कि एक सन्नारी का सुख और आनन्द कहाँ समाहित रहता है ?"

"आप ठीक कहते हैं महात्मन् ! मैं समझ सकता हूँ । मैंने घोर पाप किया है । किन्तु अब उस पाप का प्रक्षालन करना चाहता हूँ .... ।"

"वह तो हो चुका कुमार ! अब आइये मेरे साथ । कुछ समय मेरी कुटिया में विश्राम लेकर स्वस्थ हो लीजिए । आगे का मार्ग मैं आपको बताऊँगा ।"

"किन्तु पूज्यपाद ! अब मैं स्वस्थ हूँ । मैं शीघ्र से शीघ्र....।"

"बेटी अंजना के पास पहुँचना चाहते हो, यही न ? कुमार, वही होगा । किन्तु आपके समान धीर और वीर पुरुष को इतना आकुल नहीं होना चाहिए । उठो, प्रहसित, कुमार को सहारा देकर मेरे साथ चलो ।"

पवनंजय तथा प्रहसित दोनों बहुत उत्सुक थे यह जानने के लिए कि ये महात्मा कौन हैं । इन्हें अंजना के विषय में जानकारी है कि वह सकुशल एवं सुरक्षित है, बहुत बड़ी आश्वस्ति की बात हुई ; अन्यथा दुश्चिन्ताओं से घिर कर संभवतः पवनंजय के तो प्राण ही निकल चुके होते । अब ऐसा कोई भय नहीं रहा । अंजना सुरक्षित है, सकुशल है, इतना ही पर्याप्त है । अब तो केवल उसके पास तक पहुँचना है । उसे ले आना है । और उसके पश्चात् तो सब मंगल ही मंगल है ।

पर वे उत्सुक थे यह सब कुछ जानने के लिए कि अंजना है कहां ? पवनंजय पिता बन चुका है, यह तो सुनिश्चित है, अन्यथा यह अनहोनी होती ही क्यों ? तो पवनंजय किसका पिता है ? पुत्र का या पुत्री का ? कैसा है वह बालक अथवा बालिका ? और यह कि ये महात्मा कौन हैं ?

चलते-चलते उस व्यक्ति ने ही उनकी जिज्ञासा को शान्त करने की दृष्टि से स्वयं कहा—

"कुमार पवनंजय ! मैं समझ सकता हूँ कि आपको जिज्ञासा होगी अतः सबसे पहले बता दूँ कि अंजना अपने मामा प्रतिसूर्य के साथ इसी वन से उसके नगर हनुपुर गई है। इसी वन में एक कन्दरा में जब उसने एक अत्यन्त रूपवान, पुण्यवान, प्रतापी पुत्र को जन्म दिया, तभी सौभाग्य से विद्याधर प्रतिसूर्य इसी वन के ऊपर से आकाशमार्ग से अपने विमान द्वारा जा रहा था। उसने हमें देख लिया—हाँ, बताता हूँ, मैं भी उस समय अंजना और वसन्ततिलका के साथ ही था—और जब प्रतिसूर्य को ज्ञात हुआ कि अंजना उसकी भानजी है तो वह उसे बड़े प्रेम और आदर पूर्वक अपने घर ले गया। उसके बाद भी समय-समय पर मुझे सूचनाएँ मिलती रही हैं, किसी न किसी माध्यम से, कि अंजना और उसका वह पुण्यवान सुपुत्र सकुशल हैं तथा बालक दूज के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।"

उस व्यक्ति द्वारा इतनी बात बता दिए जाने से पवनंजय और प्रहसित जान गए कि वे भव्य पुरुष अन्य कोई नहीं, महेन्द्रपुर के महामंत्री ही होने चाहिए। प्रहसित का सहारा लिए चलते पवनंजय ने प्रसन्न मन से, धीमे स्वर में कहा —

"पूज्यवर ! आपके कथन से अनुमान होता है कि आप महेन्द्रपुर के महामंत्री जी ही हैं। पवनंजय का प्रणाम स्वीकार कीजिए। आपने जो उपकार मुझ पर किया है वह जन्मान्तरों तक भी भूला नहीं जा सकता। और आपका त्याग तो अतुलनीय ही है।"

"कुमार ! उपकार अथवा त्याग का कोई प्रश्न नहीं, केवल कर्त्तव्य था वह मैंने किया। अंजना क्या मेरी बेटी नहीं है ? मैंने उसे बचपन से अपनी गोद में खिलाया है।"

पवनंजय थकान के कारण अधिक बोल नहीं सका। केवल दृष्टिपात द्वारा ही उसने महामंत्री जी को अपना प्रणाम निवेदित किया।

उस मौन प्रणाम में कृतज्ञता का सागर लहरा रहा था।

महामंत्री जी ने अपने एकान्तवास के लिए जो घास-फूस की छोटी-सी कुटिया खड़ी कर रखी थी वह आ गई।

× × ×

अंजना ने अपने मामा प्रतिसूर्य के साथ हनुपुर जाने से पूर्व महामंत्री जी से आग्रह किया किया था कि वे भी उसके साथ चलें। किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया था। हनुपुर पहुँच जाने के बाद भी अंजना ने अपने विद्याधर सेवकों द्वारा महामंत्री जी के विचरण स्थान का पता लगाकर उनसे बार-बार यह आग्रह किया था कि वे या तो पुनः अपने परिवार के बीच महेन्द्रपुर लौट जायँ अथवा फिर हनुपुर ही आ जायँ। किन्तु महामंत्री जी का मन तो अब एकान्त में ही रम गया था। एकान्त तथा प्रभु-स्मरण ही उन्हें अब प्रिय लगते थे। अतः वे उसी वन में विचरते रहे थे। अस्तु, अंजना विवश होकर समय-समय पर अपने सेवकों द्वारा उनकी कुशल-मंगल के समाचार जानकर ही अपने को सन्तोष दे लेती थी।

एक रात्रि पवनंजय तथा प्रहसित ने उनकी कुटिया में विश्राम किया। प्रातःकाल होने पर पवनंजय अस्वस्थता के उपरान्त भी आकुलता-वश हनुपुर जाने का आग्रह कर ही रहा था कि सुयोग मिल गया। अंजना का भेजा हुआ एक विद्याधर सेवक महामंत्री जी की कुशल-क्षेम पूछने वहाँ आ गया। सुविधा हो गई। तब पवनंजय ने कहा—

"पूज्यपाद ! आपने अंजना तथा मेरे, दोनों के जीवन की रक्षा की है, मैं किस प्रकार, किन शब्दों में..... ....।"

"अरे कुमार, रहने दो, रहने दो। अपने पुत्र-पुत्रियों की कल्याण-कामना कौन नहीं करता ? और सबके राखनहारे तो स्वयं जिनदेव हैं। आप तथा अंजना तो महापुण्यवान हैं। इस बीच के दुःखद अन्तराल को भुला दीजिए। समय बलवान है। कर्म अपना फल प्रदान करते ही हैं। बीत गया उसको बिसार दीजिए। सुखपूर्वक अब आप हनुपुर पधारिए। वहाँ आपकी चिकित्सा भी सुचारु रूप से हो जायगी। अंजना बेचारी भी प्रति-पल आपकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए होगी और वह नवकुमार हनुमान भी अब तो काफी बड़ा हो गया होगा। मैंने आपको बताया था न कि मुनि अमितगति जी ने उसके लिए क्या कहा था—परम पुण्यशाली, परम तेजस्वी, चरमशरीरी है वह। उसका ध्यान रखिएगा।"—महामन्त्री जी ने भावना-पूर्वक कहा।

पवनंजय तथा प्रहसित ने उठकर उनके चरण-स्पर्श कर लिए। वे रोकना चाहते थे, किन्तु दोनों माने नहीं। चरणस्पर्श कर उन्होंने आशीर्वाद माँगते हुए कहा—

"पूज्यवर ! आशीर्वाद प्रदान कीजिए। हमारी हार्दिक इच्छा तो यही थी कि आप हमारे साथ चलते।"

"सुखी रहो कुमार और प्रहसित ! सदैव धर्म को धारण करके चलो। अब मुझे तो एकान्त ही अनुकूल पड़ता है।"

"विवशता है पूज्यवर ! अच्छा, समय-समय पर दर्शन हेतु आ सकने की तो अनुज्ञा है न ?"

"आपको जैसी सुविधा और अनुकूलता हो।"

विदा लेकर विद्याधर के विमान में वे हनुपुर के लिए रवाना हो गए। ●

दस

अंजना को आशा और विश्वास तो था ही कि वरुणराज के विरुद्ध वह युद्ध समाप्त हो जाने के बाद पवनंजय अवश्य ही उसको खोज करेंगे, उसे अपने पास ससम्मान बुलवा लेंगे अथवा स्वयं ही आ पहुँचेंगे । किन्तु फिर भी कुछ निश्चित रूप से तो कहा नहीं जा सकता था । जिन परिस्थितियों में उसे आदित्यपुर से निकलकर आना पड़ा था वे बड़ी कठिन थीं । कौन जाने उसके श्वसुर तथा सासूजी का क्या दृष्टिकोण रहे ? उसके पतिदेव अपने माता-पिता की सामाजिक मर्यादा-मान्यताओं के समक्ष क्या दृष्टिकोण अपनाएँ ? सब कुछ होते हुए भी माता-पिता की आज्ञा का पालन करना तो पुत्र का प्रथम धर्म है ही न ?

किन्तु, अंजना सोचती थी, जब वे स्वयं सारी वास्तविक स्थिति बताएंगे तब फिर कोई बाधा क्यों रह जानी चाहिए ? तब तो अपनी भूल पर उन सभी व्यक्तियों को पश्चात्ताप ही होना चाहिए जिन्होंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया था तथा उसे अपमानित करके निकाल दिया था । होना तो ऐसा ही चाहिए । फिर जैसी भवितव्यता !

इसी प्रकार की शंका-आशंका, संकल्प-विकल्प, आशा, और समय के व्यतीत होते चले जाने के साथ कभी-कभी कुछ निराशा की स्थिति में अंजना के दिन उत्कट प्रतीक्षा में व्यतीत हो रहे थे कि एक दिन वसन्ततिलका दौड़ती हुई आई और उसने आसन पर विचारमग्न बैठी अंजना को अपनी बाँहों में भर कर खड़ा कर दिया और चकरघन्नी की तरह घूम-घूमकर उसे नचाने लगी और प्रसन्नता से बौराई-सी हो गई ।

अंजना को बड़ा आश्चर्य हुआ । परेशान होते हुए उसने कहा—

"अरे, क्या तू पागल हो गई है ? यह क्या कर रही है ? छोड़ मुझे, चक्कर आ जायेंगे....।"

'चक्कर ही चक्कर····चक्कर ही··· चक्कर····चक्कर ही चक्कर....

कहती हुई वसन्ततिलका अंजना को और भी जोर से घुमाने लगी और हँसती चली गई।

"अरी पगली वसन्त, छोड़ मुझे बाबा ! तुझे अचानक हो क्या गया है ? मैं गिर पड़ूंगी····।"

"किसके चरणों में गिर पड़ोगी राजकुमारी जी ? हमारे कुमार पवनंजय के चरणों में ? गिरे तुम्हारी बला ! चरणों में तो वे गिरेंगे तुम्हारे, तुम क्यों गिरो ? बस, अब आते ही तो होंगे। मैंने महल की अटारी से उन्हें और प्रहसित को विमान से उतरते हुए अभी अभी देखा है....।"

"वसन्त ! वसन्त !····वसन्त !"

"हाँ जी, वे आ गए हैं। घबरा मत। किन्तु शायद युद्ध में बहुत मार खाकर आए हैं, सिर पर पट्टी जो बँधी है...."

"हे जिनदेव ! क्या कहा तूने ? सिर पर पट्टी बँधी है ? वे स्वस्थ तो हैं न ?"—कहते-कहते अंजना आँखें मूँदकर प्रभु का स्मरण करने लगी।

"वे स्वस्थ हैं, अन्यथा यहाँ आते कैसे ? पगली, चिन्ता न कर। कोई सामान्य चोट लग गई होगी। लेकिन ले, शायद वे आ ही गए।" आहट पाकर वसन्ततिलका कक्ष के द्वार तक दौड़ी गई। द्वार पर उपस्थित थे सती सन्नारी अंजना के पुण्यवान पतिदेव पवनंजय !

उन्हें प्रणाम कर वसन्ततिलका उसी द्वार से बाहर निकल गई।

पवनंजय ने प्रवेश किया। अंजना ने लाज भरे नयन उठाकर देखा और उनके चरणों में गिर गई। पवनंजय ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया।

अंजना के हर्ष की अश्रुधारा ने पवनंजय के विशाल वक्ष को भिगो दिया। जलते हुए हृदय को शीतल कर दिया।

कुछ समय इसी प्रकार मौन ही व्यतीत हुआ।

उस मौन में युग-युगों की करुण प्रेमकथा व्यक्त हो रही थी। दोनों की भावनाएँ जाने किन अनजाने स्वप्न-लोकों के सुदूर क्षितिजों का स्पर्श कर रही थीं।

कुछ समय बाद फिर पवनंजय यथार्थ की भूमि पर उतर आए और बड़े मृदु स्वर में उन्होंने पूछा—

"कैसी हो अंजना ? मेरी अंजन····· ।"

"नाथ !"—इतना ही कह सकी अंजना और उसने हर्षातिरेक में अपना मुख फिर से पवनंजय के वक्ष में छिपा लिया।

उसी समय इधर-उधर खेल-कूदकर थककर अपनी माता की याद आने पर, बालकुमार हनुमान वहाँ उछलता-कूदता आ पहुँचा। पहले तो वह 'माँ, माँ' पुकारता सीधा अपनी माता के पैरों से जा चिपटा फिर पवनंजय को देखकर उन्हें जानने-पहचानने का प्रयत्न करने लगा।

किन्तु पवनंजय ने बालक को असमंजस में न रहने देकर तुरन्त उसे अपनी बाँहों में भरकर उठा लिया, छाती से चिपटा लिया, प्रेमपूर्वक उसके मस्तक का चुम्बन करते हुए कहा—

"बेटे हनुमान ! मैं आ गया।"

"पिताजी ! आप आ गए ? माँ कब से आपका रास्ता देख रही थीं।"

"और तुम, मेरे बेटे ! तुम हमारा रास्ता नहीं देख रहे थे क्या ?"—पवनंजय ने उसके सिर पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरते हुए पूछा।

"देख रहे थे। हम भी देख रहे थे। आप इतने दिन से क्यों नहीं आए पिताजी ? माँ कभी-कभी चुपचाप रोने लगती थीं.....।"

"चल रे, बहुत बातें बनाने लगा है तू !" अंजना ने प्यार से पुत्र के गाल पर हलकी-सी चपत लगाते हुए कहा—"अब उतर नीचे अपने पिताजी की गोद से। देखता नहीं वे कितने थके हुए हैं और चोट भी लगी हुई है ?"

"अरे हाँ," कहता हुआ हनुमान उछलकर, पवनंजय की बांहों से छूटकर नीचे कूद पड़ा और बोला—"अभी वैद्यराज को पकड़ लाता हूँ।" कहकर वह भाग निकला।

अंजना ने जल्दी से, जोर से उससे कहा—"पकड़कर ही लाना, उठाकर मत ले आना।"—फिर खुशी से मुस्कुराते हुए पवनंजय की ओर दृष्टि उठाकर सुख से लबालब भरे हृदय से कहा—

"बहुत चंचल है आपका बेटा ! बड़े-बड़े महारथी देखकर विस्मय से विमूढ़ हो जायँ ऐसे-ऐसे करतब करने लगा है अभी से। इसीलिए मैंने कहा कि उठाकर मत ले आना बेचारे वृद्ध वैद्यराज को।"

पवनंजय का हृदय सुख से भर आया।

गहन-गम्भीर दुःखों के बाद प्राप्त सुख का मूल्य कुछ और ही होता है।

× × ×

पवनंजय का आगमन हनुपुर के लिए महान् मंगलोत्सव का दिवस हो गया। प्रतिसूर्य, महाराज चित्रभानु तथा महारानी सुन्दरीमाला के हर्ष का पार न रहा। उन्होंने तत्काल महेन्द्रपुर तथा आदित्यपुर के लिए समस्त शुभ समाचारों सहित शीघ्रगामी विमानों द्वारा सन्देशवाहक भेज दिए। समाचार प्राप्त होते ही महेन्द्रपुर से महाराज महेन्द्र तथा रानी हृदयसुन्दरी तथा आदित्यपुर से महाराज प्रह्लाद एवं रानी केतुमति एक क्षण का भी विलम्ब न कर हनुपुर के लिए रवाना हो गए तथा अपनी-अपनी राजधानियों तथा समस्त राज्य में हर्षोल्लासपूर्वक उत्सव-आनन्द मनाने के आदेश अपनी-अपनी प्रजा को दे आए।

अंजना के सभी स्वजन एक-एककर, शीघ्र से शीघ्र हनुपुर आ पहुँचे। और हनुपुर इन्द्रपुरी बन गया। उस राज्य में वैसे भी प्रजा सुखी थी, किन्तु फिर भी यदि कोई दीन-हीन व्यक्ति रहा ही होगा तो उसका दारिद्र्य जन्म भर के लिए दूर हो गया। राजा महेन्द्र, राजा प्रह्लाद तथा राजा चित्रभानु ने मुक्त हस्त होकर अपने-अपने राज्यकोष के हीरे-मोती उछाल दिये।

बालकुमार हनुमान का जन्मोत्सव अब बड़ी धूमधाम से मनाया गया। उस समय आनन्द का जैसा वातावरण चारों ओर बन गया था उसे देखकर ऐसा ही आभास होता था मानों पृथ्वी पर सुख और आनन्द के अतिरिक्त दुःख नाम की कोई बात होती ही न हो।

अन्य किसी युग की अन्य कोई नारी होती तो नहीं कहा जा सकता कि वह कितना मान-अभिमान करती। किन्तु सरल, सौम्या, सती-साध्वी, सन्नारी अंजना ने एक शब्द भी उपालम्भ का किसी से नहीं कहा। अपने व्यवहार से भी उस क्षमाशीला देवी ने क्षणमात्र के लिए भी कोई ऐसा आभास नहीं होने दिया कि जैसे उसे कोई रोष अथवा दुःख हो। अपने माता-पिता तथा सास श्वसुर से भेंट होने पर इससे पूर्व कि वे क्षमायाचनासूचक एक शब्द भी अपने मुख से निकाल सकें, वह उनके चरणों में प्रणाम करती हुई ऐसा ही कुछ कह देती—"पिताजी ! माताजी ! आप सब सानन्द हैं न ? महेन्द्रपुर में, आदित्यपुर में सब कुशल है न? यहाँ भी सब लोग आनन्द-पूर्वक हैं। और हाँ, आपने उस शैतान हनुमान को देखा न, कितना हैरान करता है मुझे। एक क्षण भी शान्त नहीं रहता। चंचलता तो उसकी रग-रग में बसी है.....।"

इसी प्रकार की बातें करके वह चतुराई से, प्रेम से, विषयान्तर कर

देती और सब लोग मन ही मन अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करके रह जाते—हाय ! ऐसी देवी को हमने इतना कष्ट दिया ।

कुछ दिन हनुपुर में सब लोगों ने आनन्द के साथ समय व्यतीत किया । अतीत को भुला दिया गया । बालक हनुमान की विस्मयकारी बाल-क्रीड़ाओं को देख-देखकर सुख और आनन्द से फूले न समाए और फिर उसे तथा अंजना को अनन्त आशीर्वाद देकर अपने-अपने स्थानों को लौट गए । विदा से पूर्व राजा महेन्द्र ने पवनंजय से महेन्द्रपुर होकर ही आदित्यपुर जाने का आग्रह किया । राजा प्रह्लाद ने अपने पुत्र तथा प्रिय पुत्रवधू अंजना से शीघ्र ही आदित्यपुर पहुँच जाने के लिए कहा । एकान्त में पवनंजय से कहा था उन्होंने—

'बेटे पवन ! अंजना तो हमें एक शब्द भी कहने नही देती । किन्तु तुमसे तो हम कहे बिना रह नहीं सकते, नहीं कहेंगे तो हमारे हृदय का बोझ हल्का नहीं हो सकेगा, बेटे ! हमने बड़ा अविचार किया । हम अन्धे हो गए थे । तुम हमें क्षमा करना और बेटी अंजना से भी कहना कि हमें क्षमा कर दे.....।"

"पिताजी ! बहुत हुआ । क्षमा तो अपने अपराधों के लिए छोटों को माँगनी चाहिए । अपराध वस्तुतः मेरा ही है कि युद्ध-शिविर से चुपचाप मैं अंजना के पास आया और आपको लज्जावश सूचना भी नहीं दे पाया । आप तथा मातुश्री कृपया मुझे मेरे इस अपराध के लिए अब क्षमा कर दीजिए । हम लोग शीघ्र ही आदित्यपुर पहुँचेंगे ।"

"हाँ बेटा ! शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ होकर आ जाना और देखो, बेटी अंजना का पूरा ध्यान रखना । हम धन्य हैं कि ऐसी पुत्रवधू हमें मिली है । भगवान जाने हमारी बुद्धि को उस समय क्या हो गया था । हमारी मति कैसे मारी गई थी....."

"पिताजी ! अब आप व्यर्थ ही दुःख न करें । अब तो सब ठीक हो गया । आप तो जानते हो हैं कि कर्मों के शुभाशुभ परिमाणों को तो सभी को भोगना ही पड़ता है । अस्तु, आप माताजी को भी समझाइयेगा कि वे भी अब व्यर्थ दुःख न मानें तथा सुखपूर्वक हमें सदाकाल आशीर्वाद प्रदान करती रहें ।"

"हमारे आशीर्वाद तो तुम लोगों के साथ हैं ही, किन्तु तुम्हारे और अंजना के पुण्य सर्वोपरि हैं बेटे पवन ! तुम सदा सुखी ही रहोगे । और देखो, लौटते समय उस शैतान हनुमान का भी खूब ध्यान रखना भला !

कहीं वह लौटते समय मार्ग में पड़ने वाले समस्त पर्वत-शिखरों को चूर्ण-चूर्ण न कर दे !"

महराज प्रह्लाद के इस परिहासमय कथन तथा हनुमान के जन्म के समय प्रतिसूर्य के विमान से उसके गिर जाने और शिला के चूर्ण-चूर्ण हो जाने की घटना के स्मरण से वातावरण पूर्णतः हल्का और विषादमुक्त हो गया था।

× × × ×

कुछ ही दिनों में पवनंजय पूर्ण स्वस्थ हो गया। उसके चेहरे पर स्वास्थ्य एवं शक्ति की वही चमक फिर से लौट आई। अपनी आन्तरिक आत्मश्रद्धा से तो उसका मुखमंडल दीप्तिमय था ही।

उस तेजोज्ज्वल, दीप्तिमय अपने पतिदेव के मुख की ओर सुख से भरी-भरी देखती हुई अंजना ने एक दिन पवनंजय ने कहा—

"स्वामी ! जिनेश्वर भगवन्त की कृपा से शापान्त हुआ अथवा यह कहें कि पूर्वकृत कर्मों का प्रक्षालन हुआ। हम पुनः मिल गए। आप भी अब पूर्ण स्वस्थ हो गए। अब आगे क्या विचार है आपका ?"

"जैसा तुम कहो अंजन ! चलें—महेन्द्रपुर होते हुए आदित्यपुर चलना है न ?"

"हाँ स्वामी ! महेन्द्रपुर होते हुए ही चलना है। किन्तु एक मेरी प्रार्थना और है।"

"प्रार्थना क्यों ? आज्ञा कहो देवी !"

"ऐसा भी कभी होता है ? लज्जित न कीजिए। आज्ञा देना आपका कार्य है। अनुगमन करना मेरा।"

"खैर, कहो क्या कहना चाहती हो ?"

"स्वामी ! आदित्यपुर से चलकर महेन्द्रपुर पहुँचने से पूर्व मैं और वसन्ततिलका जंगल में खूब भटके थे। कहीं कोई आश्रय, कोई आधार दिखाई नहीं देता था। एक दिन तो हम इतने श्रान्त—क्लान्त हो गये थे भूख-प्यास के मारे कि अब भी उस समय का स्मरण हो आता है तो देह में कंपकंपी-सी छूटने लगती है। खैर, वे दिन तो अब बीत गए। किन्तु उस समय एक दिन जब हम दोनों जंगलों में भटक रहे थे और एक किसी शिवालय के तिवारे में रैन बसेरा करके आगे बढ़ने का विचार प्रातःकाल कर रहे थे, तब हमें एक ग्वाल-बाल मिल गया था। बहुत प्यारा बालक है

वह। दौड़कर समीप के अपने ग्राम में गया और अपने बाबा को बुला लाया। वे बाबा कितने दयालु, कैसे देवात्मा हैं, कैसे कहूँ ? उन्होंने बड़े प्रेम से हमें उस दिन अपने घर पर रखा। हमें भोजन मिला, विश्राम मिला, आश्रय मिला और सब से बढ़कर उनका निःस्वार्थ प्रेम मिला। उनका वह निःस्वार्थ उदार आतिथ्य तथा प्रेम कभी भुलाया नहीं जा सकता। वह ग्राम महेन्द्रपुर की सीमा में, बहुत अधिक दूर भी नहीं है।

"तो मेरी इच्छा है कि महेन्द्रपुर से आगे बढ़ने पर हम लोग एक दिन के लिए उस ग्राम में अवश्य ठहरें। बाबा और मुनुआ से मिलने की बड़ी इच्छा है। और मैं पिताजी से कहूँगी कि उन बाबा को आसपास के दो-चार ग्राम मिलाकर उनका ग्रामपति वे उन्हें बनादें। ठीक है न स्वामी !"

"ठीक है, शुभ है, बहुत उचित है, प्रिये ! ऐसे उपकार का बदला तो कभी दिया ही नहीं जा सकता, फिर भी हम से जो कुछ भी बन सके कर्त्तव्य मानकर उतना तो करना ही चाहिए। अच्छा, तो फिर प्रस्थान की तैयारी की जाय ?"

"प्रस्तुत हूँ प्राणनाथ ! आपका अनुगमन अब जन्म-जन्मान्तरों तक करती रहूँ, यही अभिलाषा है।"

"यह तो परस्पर है, अंजन ! जीवन-मरण और मुक्ति में हम सदा साथ ही रहेंगे।"—पवनंजय ने प्रेमपूर्वक कहा और अंजना के कन्धों पर अपना हाथ रख दिया।

दोनों भावविभोर थे।

निश्चय के अनुसार वे लोग प्रहसित तथा वसन्ततिलका के साथ हनुपुर से प्रस्थान करके महेन्द्रपुर आ पहुँचे। कुछ दिन वहाँ सुख-पूर्वक रह-कर अंजना ने अपने पिता राजा महेन्द्र से बाबा के लिए ग्रामपति बनाए जाने का आवश्यक राज्यादेश लिया तथा दो रथों में ढेर सारे उपहार—वस्त्राभूषण, मेवे-मिष्टान्न, खेल-खिलौने और एक बहुत सुन्दर, बहुत कलात्मक सोने का हुक्का साथ लेकर वे महेन्द्रपुर से चल पड़े। उपहारों से लदे इन दो रथों के अतिरिक्त एक बहुत बड़े रथ में पवनंजय-अंजना अपने पुत्र हनुमान तथा अपने अभिन्न प्रहसित एवं वसन्ततिलका के साथ बैठे थे। ग्रीष्म ऋतु थी, अतः बड़ी भोर ही वे लोग महेन्द्रपुर से चल पड़े थे।

अंजना और वसंततिलका को उस ग्राम का मार्ग ज्ञात था। सारथी को उन्होंने दिशा-निर्देश दे दिया और तीव्रगामी अश्वोंवाले वे रथ धड़-

घड़ाते हुए सूर्योदय के कुछ ही समय पश्चात् उस ग्राम में पहुँचकर बाबा के द्वारे जा खड़े हुए।

बाबा दतौन कर चुके थे। छाछ का बड़ा लोटा खाली हो गया था। अब वे अपना हुक्का गुड़गुड़ाते आँगन में अपनी स्थायी बैठक पर नीम के नीचे बैठे थे और कह रहे थे—

"ओ रे मुनुआ ! घाम चढ़ रहा है बेटे !"

"अब मैं क्या करूँ बाबा"—भीतर कहीं से मुनुआ की आवाज आई —"ये छुटकू—टिमकू अड़े जा रहे हैं। कहते हैं, हम भी चलेंगे तुम्हारे साथ। भला बताओ बाबा, मैं जंगल में इन्हें सम्हालूंगा या अपनी गायों को ?"

"गुड़····गुड़····गुड़····गुड़····ठीक तो बात है। भला जंगल में इतने छोटे बच्चों का क्या काम ? अरे छुटकू रे, हैरान मत कर। कल मेरे साथ चलना, तुझे चलना ही है तो। समझा ? आज तो मैं जाऊँगा नहीं। कल चलना मेरे साथ।"

बाबा का यह फरमान सुनकर छुटकू मचल गया। रुआँसा-सा दौड़कर बाहर आया, बाबा का हुक्का हाथ में से उसने छीन लिया और बोला—

'हम जाएँगे जंगल में बस।"

"जाएंगे जंगल में बस। तूने कह दिया और हो गया, क्यों ?"—बाबा ने उसे गोद में लेते हुए कहा—"जानता है जंगल में क्या होता है ? शे ऽ ऽ ऽर। समझा ? शेर कैसे बोलता है, पता, है—हो ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ"

बाबा गरज रहे थे। टिमकू भी इस बीच वहाँ आकर टिमक—टिमक बाबा के गरजते हुए चेहरे को गौर से, कुछ सहमा-सा, देख रहा था। उसी समय धड़··· धड़····धड़····धड़धड़ाते हुए तीन रथ बाबा के द्वारे आ लगे थे।

बाबा का गर्जन करता हुआ खुला हुआ मुँह खुला ही गया। वे भौंचक्के-से उठकर खड़े हो गए—क्या शेर घर तक आ गया ?

शीघ्रता से द्वार पर आकर उन्होंने बाहर झाँका—रथ में बैठी अंजना और वसन्ततिलका बाबा को देखकर मुस्कुरा रही थीं।

कुछ क्षण बाबा वैसी ही विस्मय भरी आँखों से उन्हें देखते रह गए। सोकर तो वे कब के उठ गए थे। दतौन-अतौन भी हो चुका था। हुक्का गुड़-गुड़ाते क्या झपकी लग गई····

अंजना और वसंततिलका को भोले बाबा का यह चमत्कृत रूप देख कर बड़ा मजा आया। अंजना बोली—

"बाबा ! अपनी बेटी को घर में आने को नहीं कहोगे ?"

"अरे ऽ ऽ ऽ ऽ, अरे ऽ ऽ ऽ बेटी ! आओ, आओ । अरे सुनती हो ? अरे ओ भागवान, कुछ सुनती हो ? देखो तो···· ।"

तब तक मुनुआ ने भी अंजना और वसन्ततिलका को पहचान लिया था और पहचानकर वह रथ पर जा चढ़ा था। छुटकू-टिमकू कुछ सहमे-से खड़े रह गये थे। उन्हें गुस्सा भी आ रहा था मुनुआ पर—बड़ा है तो झट से जा बैठा रथ में ?

सब लोग फिर खुशी-खुशी रथ से उतर आए। बाबा का एक हाथ अंजना और दूसरा वसन्ततिलका ने पकड़ा और भीतर आते हुए अंजना ने कहा— 'आओ बाबा ! आराम से बैठकर सब बताती हूँ।"

बिना किसी समारम्भ के सब लोग नीम की छाया में लिपे-पुते चबूतरे पर आराम से आ बैठे। बाबा ने कहना चाहा कि यह क्या हो रहा है, कुछ बिछौना-बिछौना····पर अंजना ने कुछ नहीं सुना। बाबा के पास जा बैठी और बोलने लगी—

"बाबा ! देखो ये हैं···· ।"

वह बोलने तो लगी किन्तु इतना ही कहकर लाज से थम गई। तब वसन्ततिलका ने कहा —

'मैं बताती हूँ बाबा ! ये हैं कुमार पवनंजय, मेरी इस सखी के पति-देव। और ये हैं प्रहसितकुमार, कुमार पवनंजय के अभिन्न मित्र। और ये शैतान है हनुमान, मेरी सखी का प्यारा-प्यारा बेटा। अब कुछ समझे कि नहीं बाबा ?"

बाबा की हालत दर्शनीय थी। क्या-क्या भाव उनके हृदय में उस समय नहीं थे ! आनंद का सागर उनके हृदय में हिलोरें ले रहा था यह जानकर कि उनकी वह बेटी और कोई नहीं अंजना है जिसके गुण-शील की कीर्ति समस्त भरतक्षेत्र में व्याप्त हो रही थी। और वे दीप्तिमान देवपुरुष स्वयं कुमार पवनंजय हैं जिनका सुयश भुवन विख्यात हो रहा था।

और वे देवपुरुष मुझ गरीब-गँवार के द्वारे ? नंगे चबूतरे पर ऐसे मुस्कुराते बैठे हैं जैसे देवराज इन्द्र अपने रत्न-सिंहासन पर ही विराजे हों। संकोच से वे भूमि में गड़े-गड़े जा रहे थे। जाने कैसे तो उन्होंने अपने संकोच, सुख और आश्चर्य पर काबू किया होगा ? खड़े होकर उन्होंने अपने हाथ जोड़े और कुमार को प्रणाम करते हुए कुछ कहने को हुए कि पवनंजय ने उन्हें हाथ पकड़कर फिर बिठा लिया और बोले—

"बाबा ! अंजना आपकी बेटी है तो मैं भी आपका पुत्र हुआ न ? बस, अब आप कोई संकोच मत कीजिए। बड़ी गरमी है, थोड़ी छाछ मिल जाती····"

"अरे हाँ हाँ ! ओ भागवान सुनती हो ?"

सारा संकोच दूर हो गया।

तब तक अंजना के पूर्व निर्देशानुसार सेवकों ने दोनों रथों में से सारी सामग्री ला-लाकर आँगन में रखनी आरम्भ कर दी थी। अंजना ने सबसे पहले वह सोने का हुक्का उठाकर बाबा के हाथ में थमा दिया, कहा—"बाबा ! यह रहा आपका हुक्का। और मुनुआ, छुटकू, टिमकू—इधर आओ तुम लोग—और वह निक्की कहाँ है रे मुनुआ ?"

"वह तो आलसी है। सो रही होगी अभी।"—मुनुआ ने कहा।

"हूँ ? आलसी है ? मुझे सब पता है। कितना काम करती है वह घर में मालूम है ? थक जाती है वह। तो सो रही होगी। अभी देर ही कितनी हुई है ? तुम्हारे जैसी थोड़े ही है कि सुबह हुई, गायों को लिया और चल दिये जंगल में। बस फिर क्या ! सारे दिन मौज। वह प्यारी बेटी निक्की तो अपनी माँ के साथ दिन भर कुछ न कुछ काम करती है जानते हो ?"—कहकर अंजना ने मुनुआ, छुटकू, टिमकू तीनों को अपने पास बिठा लिया। वसन्ततिलका ने मिष्टान्नों से भरा एक थाल उनके सामने कर दिया। पवनंजय ने बहुत सारे खिलौने लिए और उनकी गोद में रख दिए। अंजना ने कहा—"खाओ बच्चो, और फिर खूब खेलो।"

"और निक्की ?"—मुनुआ ने कहा—"वह नहीं खाएगी क्या ? मैं उसे बुलाकर लाता हूँ।"—कहकर वह घर के भीतर दौड़ गया—निक्की···· निक्की····।

अंजना हंस पड़ी। उसने पवनंजय से कहा—"यह मुनुआ जितना निक्की से लड़ता है न, उतना ही उसे प्यार भी करता है। दोनों एक दूसरे के बिना जैसे रह ही नहीं सकते।"

आँखें मलती निक्की को मुनुआ घसीट लाया। एकाएक तो वह आश्चर्य में डूब गई, किन्तु फिर अंजना को पहचानकर उसकी गोद में बैठकर बोली—

"इतनी सारी मिठाई हम नहीं खाएँगे। नुकसान करेगी।"

सब लोग हंस पड़े। अंजना ने कहा—"थोड़ी-थोड़ी खाओ बेटी! फिर भूख लगेगी तो खाएँगे। है न?

मिष्ठान के और थाल सेवकों ने सबके सामने ला रखे थे। सबने मिलकर थोड़ा बहुत खाया और फिर प्रहसित तो उठकर घर के भीतर जा पहुँचा—माँ-माँ! मैं हूँ प्रहसित। तुम्हारी बेटी अंजना का देवर। पहिचान गईं ना? किधर है वह छाछ का मटका?

और मटका ही उठाकर प्रहसित बाहर आ गया। मुनुआ की माँ ने लजाते-शरमाते ताजे मक्खन की एक बड़ी-सी हँड़िया भी लाकर चबूतरे पर रख दी।

हमारा विचार है कि उस दिन उस मंडली ने तक्र और नवनीत का जो भोग लगाया उसे देख-देखकर स्वर्ग में शक्रराज को भी ईर्ष्या हुई होगी।

× × × ×

वह दिन बड़ा सुख का बीता। उत्सव मन गया। उस ग्राम तथा आसपास के ग्रामों के सभी निवासियों को एकत्र कर कुमार पवनंजय ने विशाल सहभोज दिया और फिर बाबा को ग्रामपति घोषित किया। बाबा आस-पास कोसों तक इतने लोकप्रिय थे कि लोगों के हर्ष का पार न रहा। सबने कुमार पवनंजय तथा देवी अंजना का जय-जयकार किया। ग्रामपति बाबा की भी जय बोली गई।

सुन्दर राजसी वस्त्रों में सुशोभित बालकुमार हनुमान, मुनुआ, निक्की, छुटकू और टिमकू—दिन भर अपने सुन्दर खिलौने लेकर खुशी से उछल-कूद करते रहे। चंचल हनुमान तो मुनुआ के साथ दूर-दूर तक जंगल में भी घूम आया।

दिवस का अवसान हुआ।
रात्रि भी व्यतीत हो गई।

प्रातःकाल होने पर पवनंजय और उसके साथियों ने बाबा से भाव-भीनी विदा ली। दूर तक ग्रामवासी उन्हें विदा कर आए।

धूल उड़ाते हुए रथ आदित्यपुर की दिशा में बढ़ गए।

मार्ग में पवनंजय ने अंजना से कहा—
"देवी! एक इच्छा हमारी भी है। कहो तो कहें।"
"आज्ञा कीजिए देव!"

"आदित्यपुर पहुँचने से पूर्व हम तीर्थयात्रा करना चाहते हैं देवी !"

"तीर्थयात्रा ? कैसी तीर्थयात्रा ? मैं समझी नहीं।"

पवनंजय ने मोद से मुस्कुराते हुए कहा—"मानसरोवर की यात्रा। वहाँ किसी दिन, किसी भाग्यवान पुरुष को, किसी देवी के दर्शन हुए थे। उस देवी का वरदान प्राप्त हुआ था। तो वह तीर्थ हुआ न ? क्यों प्रहसित, तुम क्या कहते हो ? मानसरोवर मेरे लिए महातीर्थ हुआ कि नहीं ?"

प्रहसित ने भी आनन्द लेते हुए कहा—

"भाभी ! बड़ी मुश्किल से सुबह का भूला घर लौटकर आया है। मान जाओ बेचारे की बात।"

सब हंस पड़े। अंजना ने कहा—

"सारथी ! अश्वों की वल्गाएँ मानसरोवर की ओर मोड़ दो।"

× × × ×

पारदर्शी, स्वच्छ, शीतल जल लहर-लहर लहरा रहा था। साँझ घिरती चली आ रही थी। भुवनभास्कर की तिरछी, स्वर्णिम किरणें उस नीले जल पर थिरक-थिरक कर नाच रही थीं और उसे अनुराग की लाली से रंग रही थीं। सरोवर के किनारे के वृक्षों की छायाएँ उस अद्भुत तरंग-नर्तन में सम्मिलित होने के लिए उस अतल की सतह पर बिछी-बिछी जा रही थीं।

कितना पवित्र, कितना शोभामय था मानसरोवर का वह तीर।

एक हंसिनी, अकेली, धीरे-धीरे तिरती सरोवर के एक किनारे से दूसरे किनारे की ओर—उस पार चली जा रही थी।

उस अकेली हंसिनी को देखकर तट पर ठंडी रेत में बैठी अंजना ने पवनंजय की ओर भावभरी दृष्टि उठाकर देखा और कहा—

"मेरे देव ! देखो तो उस बेचारी एकाकिनी हंसिनी को। कहाँ चला गया होगा उसका राजहंस ?"

पवनंजय ने अपनी दृष्टि दूर-दूर तक फैलाई और फिर एकाएक प्रसन्न होते हुए कहा—

"वह देखो अंजन ! वह उस सामने वाले किनारे की ओर देखो, उधर से तिरता-तिरता चला आता वह राजहंस दिखाई देता है तुम्हें ?"

अंजना ने ध्यान से देखा—अरे हाँ साँझ के घिरते चले आते झुटपुटे में उसे पहले वह हंस दिखाई नहीं दिया था। अब दीखा, और वह-आनन्द से आप्लावित हो गई। बोली कुछ नहीं। पवनंजय भी कुछ नहीं बोला। दोनों मौन देखते रहे—इस ओर से वह राजहंसिनी और सामने

दूसरी ओर से वहराजहंस धीरे-धीरे तिरते एक-दूसरे के समीप आते चले जा रहे थे।

सूर्य पर्वत शिखरों की ओट हो चुका था। साँझ सुरमई हो गई थी। किन्तु पवनंजय और अंजना को दिखाई दिया कि झिलमिल चमकती, पारदर्शी उस झील की सतह पर ठीक मध्य में वह हंस-युगल एक-दूसरे की ग्रीवा में अपनी ग्रीवा डाल चुका था।

पवनंजय ने अंजना की नीली झील-सी आँखों में झाँकते हुए कहा—

"देवी अंजना! सृष्टि में सबसे पवित्र, सबसे अधिक शक्तिशाली क्या वस्तु हो सकती है?"

"प्रेम"! —अंजना ने कहा और अपना मस्तक उसने पवनंजय के सशक्त कन्धों पर टिकाकर सुख के अतिरेक में अपनी आँखें मूँद लीं।

———